THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

जैन न्याय का विकास

•

प्रवक्ता

मुनि नथमल

संपादक

मुनि दुलहराज

प्रकाशक

जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र

राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर

भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी
के अवसर पर

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर
में स्थापित

'जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र'

का

प्रथम पुष्प

प्रस्तावना

राजस्थान विश्वविद्यालय के तत्वावधान में "जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र" को विशिष्ट अनुदान द्वारा प्रतिष्ठित करने का श्रेय राजस्थान सरकार को है। सर्वप्रथम केन्द्र के कार्य को गति देने के लिए उसके तत्कालीन अधिष्ठाता डा० दयाकृष्ण ने गण्यमान्य विद्वानो के भाषणो की व्यवस्था करने की योजना बनायी। सौभाग्य से आदरणीय मुनिवर नथमलजी ने इस भाषणमाला का श्रीगणेश करने की स्वीकृति प्रदान की। फलत मुनिजी के चार भाषण करवाये गये। इनको लिपिबद्ध किया गया और उनका केन्द्र के द्वारा प्रकाशन आपके समक्ष है।

जैन न्याय का प्राणभूत सिद्धान्त स्याद्वाद है और उसका सकेत प्राचीनतम जैन ग्र थो मे स्पष्ट मिलता है। परवर्तीकाल मे बौद्ध और ब्राह्मण नैयायिको के साथ परस्पर विचार एव शास्त्रार्थ के द्वारा जैन न्याय का विकास हुआ। समन्तभद्र और सिद्धसेन ने जिस न्याय शास्त्र का बीजारोपण किया उसे अकलक ने एक सूक्ष्म शास्त्र के रूप मे परिवर्धित किया और विद्यानन्द एव प्रभाचन्द्र ने इस शास्त्र को बृहत् आकार प्रदान किया। न्याय के सूक्ष्म और जटिल प्रकरणो से मूल तत्वो का सरल और मौलिक प्रतिपादन मुनि नथमलजी ने अपने व्याख्यानो मे किया है। उनके प्रतिपादन मे गभीरता के साथ-साथ प्रसादगुण अद्भुत रूप से विद्यमान है जोकि उनकी तलस्पर्शी विद्या का द्योतक है।

हमे आशा है कि प्रस्तुत ग्र थ विद्वानो तथा जैन न्याय की जानकारी के जिज्ञासुओ के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। मैं विश्वविद्यालय की ओर से विद्वान् मुनि श्री के प्रति आभार प्रकट करता हू और पाठको से अनुरोध करता हू कि ग्र थ के सारगर्भित विषय से लाभ उठावें। केन्द्र के वर्तमान अधिष्ठाता डा० गोपीनाथजी शर्मा बधाई के पात्र हैं कि उनके प्रयत्नो से यह प्रकाशन पूरा हो सका है।

गोविन्द चन्द्र पाण्डे
कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मार्च 12, 1977।

प्रस्तुति

जैन दर्शन आध्यात्मिक परम्परा का दर्शन है। सब दर्शनो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—आध्यात्मिक और बौद्धिक। आध्यात्मिक दर्शन स्व और वस्तु के साक्षात्कार या प्रत्यक्षीकरण की दिशा मे गतिशील रहे हैं। बौद्धिक दर्शन स्व और वस्तु से सबधित समस्याओ को बुद्धि से सुलझाते रहे हैं। आध्यात्मिक दर्शनो ने देखने पर अधिक बल दिया, इसलिए वे तर्क-परम्परा का सूत्रपात नही कर सके। बौद्धिक दर्शनो का अध्यात्म के प्रति अपेक्षाकृत कम आकर्षण रहा, इसलिए उनका ध्यान तर्कशास्त्र के विकास की ओर अधिक आकर्षित हुआ।

तर्कशास्त्रीय विकास मे बौद्ध, नैयायिक-वैशेषिक और मीमासक अग्रणी रहे हैं। मीमासक मनुष्य के अतीन्द्रियज्ञान को मान्य नही करते। न्याय और वैशेषिक दर्शन की पृष्ठभूमी मे अध्यात्म का वह विकसित रूप नही है जो साख्यदर्शन की पृष्ठभूमी मे है। बौद्ध दर्शन की पृष्ठभूमी पूरी की पूरी आध्यात्मिक है। जब तक भगवान् बुद्ध और उनकी परम्परा के प्रत्यक्षदर्शी भिक्षु रहे तब तक बौद्ध परम्परा तर्कशास्त्र की ओर आकर्षित नही हुई। साधना का बल कम होता गया, प्रत्यक्षदर्शी भिक्षु कम होते गए, तब तर्कशास्त्र के प्रति झुकाव होता गया। जैन परम्परा मे तर्कशास्त्र का विकास बौद्धो के बाद हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बौद्धो की अपेक्षा जैन आचार्य अधिक समय तक प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं। प्रत्यक्ष-दर्शन की साधना कम होने पर ही हेतु या तर्क के प्रयोग की अधिक अपेक्षा होती है। मैं यह स्थापना नही कर रहा हू कि प्रत्यक्ष-द्रष्टा मुनियो की उपस्थिति मे हेतु या तर्क का कोइ उपयोग नही होता, किन्तु यह कहना मुझे इष्ट है कि उसका उपयोग बहुत ही नगण्य होता है

जैन दर्शन तर्क-परम्परा मे प्रवेश कर बौद्ध और न्याय-वैशेषिक दर्शनो की कोटि मे आ गया, किन्तु वह अपनी आध्यात्मिक परम्परा को विस्मृत किए बिना नही रह सका। बौद्धो मे ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा तर्क से दूर रहकर अध्यात्म की दिशा मे चलती रही। जैनो मे ऐसी कोई स्वतन्त्र परम्परा स्थापित नही हो सकी, फलत अध्यात्म और तर्क का मिलाजुला प्रयत्न चलता रहा। इस भूमिका मे जैन दर्शन के तर्कशास्त्रीय सूत्रपात और विकास का मूल्याकन किया जा सकता है। मैंने इसी भूमिका को ध्यान मे रखकर उसका मूल्याकन किया है।

आचार्य श्री तुलसी सन् 1975 का चातुर्मास जयपुर मे बिता रहे थे। राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति श्री गोविदचन्द्र पाडे और कला सकाय के डीन श्री दयाकृष्ण आचार्यश्री के पास आए। उन्होने राजस्थान विश्वविद्यालय मे सद्य स्थापित 'जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र' के अन्तर्गत 'जैन न्याय' के विषय पर एक भाषणमाला आयोजित करने का सुझाव प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने उसे स्वीकृति दी और भाषण देने के लिए मुझे निर्देश दिया, मैं अपनी तैयारी मे लग गया। एक मास की तैयारी के बाद भाषणमाला का क्रम प्रारभ हो गया। प्रति शुक्रवार जैन-न्याय पर भाषण देने के लिए मैं अपने सहयोगी मुनियो (मुनि श्रीचन्द्रजी, मुनि दुलहराजजी और मुनि महेन्द्रकुमारजी) के साथ विश्वविद्यालय मे जाता और भाषण का क्रम चलता। कुलपति श्री पाडे, इच्छा होते हुए भी, सभी भाषणो मे उपस्थित नही रह सके। प्रो दयाकृष्ण प्राय सभी भाषणो मे उपस्थित रहे और उन्होने बहुत दिलचस्पी ली। विश्वविद्यालय के अन्य अनेक प्राध्यापक, प्रवक्ता और शोध-विद्यार्थी एव विद्यार्थी उपस्थित रहते। मुझे प्रसन्नता है कि उनकी उपस्थिति और जिज्ञासाओ ने सदा मुझे कुछ नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। दर्शन की नई सभावना के विषय मे मैं कुछ प्रकाश नही डालता यदि प्रो दयाकृष्ण इस प्रश्न को उपस्थित नही करते। समय, स्थान आदि की व्यवस्था मे प्रवक्ता मुकुन्द लाल ने बडी तत्परता से अपना दायित्व निभाया और भाषणमाला का क्रम समीचीन रूप से सम्पन्न हुआ।

भाषणमाला का प्रारम्भ 'जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र' के उद्घाटन के रूप मे हुआ। प्रो दयाकृष्ण ने बहुत मार्मिक शब्दो मे आचार्यश्री तुलसी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की। भाषणमाला आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य मे सम्पन्न हुई। उस समय कुलपति पाडे तथा विश्वविद्यालय के अन्य विद्वान् उपस्थित थे ही, सयोगवश डॉ दौलतसिंह कोठारी भी वहा आ गए थे। उस समय प्रगट किए गए उद्गारो से मैंने अनुभव किया कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अध्ययन मे रहनेवाले विद्वान् भारतीय तर्कशास्त्र की परम्पराओ के प्रति जागरूक होते जा रहे हैं। इस भाषणमाला का उस जागरूकता की कडी के रूप मे ही अकन किया गया। मुझे यह बहुत शुभ लगा।

मैं आचार्यश्री तुलसी के प्रति सर्वात्मभावेन श्रद्धानत हू, फिर भी प्रस्तुत सन्दर्भ मे उनके चरणो मे अपनी विनम्र श्रद्धा समर्पित करता हू। विश्वविद्यालय के कुलपति तथा अन्य विद्वानो ने जिस रुचि और सद्भाव से कार्यक्रम को सम्पन्न करने मे योग दिया, उसका यथार्थ मूल्याकन कर मैं उल्लास का अनुभव करता हू। मुनिजनो का सहयोग भी स्मरणीय है कि भाषण देने के लिए चार माइल जाने-आने मे उनका योग मिलता रहा।

श्री केशरीचन्द लुनिया, राधेश्याम और उनके पुत्र श्याम ने भाषणों के टेप ले उन्हे सुरक्षित कर लिए। मुनि दुलहराजजी ने उन्हें सपादित किया और परिशिष्ट भी तैयार किए। प्रति-मेलन मे मुनि राजेन्द्रकुमारजी ने सहयोग दिया। वे भाषण अब तक एक पुस्तक के रूप मे प्रस्तुत हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय 'जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र' के प्रथम पुष्प के रूप मे इसे प्रकाशित कर पाठको के सामने प्रस्तुत कर रहा है यह भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर राजस्थान विश्वविद्यालय तथा हम सबकी भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धापूर्ण भावाञ्जलि होगी।

जैन विश्व भारती,
लाडनू (राजस्थान)
10–5–76

मुनि नथमल

विषयानुक्रम

				पृ०
१.	आगम युग का जैन न्याय	....	....	1
	प्रमेय की सिद्धि प्रमाणाधीन	....	..	1
	प्रमाण संख्या	....	....	2
	उपादान के नानात्व से प्रमाण का नानात्व		....	2
	न्याय की परिभाषा	....	....	6
	जैन न्याय के तीन युग	...	...	7
	आगमयुग का जैन न्याय	...	..	8
	ज्ञान का स्वरूप	...	...	10
	ज्ञान का मूल स्रोत और उत्पत्ति	....	..	10
	ज्ञान की सीमा	....	..	11
	इद्रियज्ञान और प्रमाणशास्त्र			12
	प्रश्न और उत्तर	...	..	13
२	दर्शनयुग का जैन न्याय	..	...	17
	आगम और हेतु का समन्वय			18
	अहेतुगम्य पदार्थ			21
	हेतुगम्य पदार्थ	.	...	21
	ज्ञान का प्रमाणीकरण	....	.	22
	प्रत्यक्ष प्रमाण की सम्पर्कसूत्रीय परिभाषा	..		23
	अनेकान्त-व्यवस्था और दर्शन-समन्वय	.		26
	समन्वय के आयाम	.	....	28
	प्रश्न और उत्तर			31
३.	अनेकान्त व्यवस्था के सूत्र	....		36
	सामान्य और विशेष का अविनाभाव		....	36
	नित्य और अनित्य का अविनाभाव		.	38
	अस्तित्व और नास्तित्व का अविनाभाव			41
	वाच्य और अवाच्य का अविनाभाव			43
	अनेकान्त का व्यापक उपयोग		.	43

	अस्ति-नास्ति का अविनाभाव	44
	नित्य और अनित्य का अविनाभाव	45
	द्रव्य और पर्याय के भेदाभेद का अविनाभाव	46
	एक और अनेक का अविनाभाव	47
	अनेकान्त फलित और समस्याए	48
४	नयवाद अनन्त पर्याय, अनन्त दृष्टिकोण	50
	संग्रह और व्यवहार नय	50
	नैगमनय	51
	ऋजुसूत्रनय	53
	शब्दनय	55
	समभिरूढनय	56
	एवभूतनय	58
	नय की मर्यादा	58
	निक्षेप	59
	नय और निक्षेप	61
	प्रश्न और उत्तर	63
५	स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय	66
	स्याद्वाद के फलित	73
	प्रश्न और उत्तर	77
६.	प्रमाण-व्यवस्था	81
	प्रमाण की परिभाषा	81
	प्रामाण्य और अप्रामाण्य	85
	प्रमाण का फल	87
	प्रमाण का विभाग	88
	स्मृति	96
	प्रत्यभिज्ञा	97
	तर्क	99
	आगम	100
	प्रश्न और उत्तर	102
७	अनुमान	104
	हेतु	106
	हेतु के प्रकार	107
	अवयव-प्रयोग	107

८ अविनाभाव 113

अविनाभाव (व्याप्ति) को जानने का उपाय 115

प्रश्न और उत्तर 121

९ भारतीय प्रमाण-शास्त्र के विकास में जैन परम्परा का योगदान .. 123

दर्शन और प्रमाण-शास्त्र नई सभावनाए . 127

परिशिष्ट

1 प्रमाणों के विभिन्न प्रकार 133

2 व्यक्ति, समय और न्याय रचना 139

3 न्याय-ग्रन्थ के प्रणेताओ का सक्षिप्त जीवन-परिचय .. 145

4 पारिभाषिकशब्द-विवरण 161

5 प्रयुक्तग्रन्थ सूची 173

: 1 :

आगमयुग का जैन न्याय

"यस्मिन् विज्ञानमानन्द, ब्रह्म चैकात्मता गतम् ।
स श्रद्धेय स च ध्येय, प्रपद्ये शरण च तत् ॥"

प्रमेय की सिद्धि प्रमाणाधीन

भारतीय दर्शन मे सर्वप्रथम प्रमाण की चर्चा की जाती है। प्रमेय की चर्चा उसके पश्चात् आती है। प्रमाण और प्रमेय ये दो न्यायशास्त्र के मूलभूत अग हैं। प्रमेय की स्थापना प्रमाण के द्वारा होती है। 'प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि' प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है, यह ईश्वरकृष्ण का अभिमत है।[1] आचार्य अकलक का भी यही मत है। प्रमेय का अस्तित्व स्वतत्र है, किन्तु उसकी सिद्धि प्रमाण के अधीन है।[2] जब तक प्रमाण का निर्णय नही होता तब तक प्रमेय की स्थापना नही की जा सकती। इसीलिए दर्शन के आरम्भ मे प्रमाण-विद्या [तर्क-विद्या, आन्वीक्षिकी या न्याय-विद्या] की चर्चा की जाती है।

आगम सूत्रो मे पहले ज्ञान का फिर ज्ञेय का निर्देश मिलता है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे ज्ञानखड के पश्चात् ज्ञेयखड का प्रतिपादन किया है। अनुयोगद्वार तथा नदीसूत्र का प्रारम्भ ज्ञान-सूत्र से ही होता है।

सत्य ज्ञेय है। उसको जानने का साधन ज्ञान है। सत्य का अस्तित्व अपने आपमे है। वह ज्ञाता के ज्ञान पर निर्भर नही है और उससे उत्पन्न भी नही है। चैतन्य का अस्तित्व भी स्वतत्र है। वह ज्ञेय पर निर्भर नही है और उससे उत्पन्न भी नही है। चैतन्य के द्वारा कुछ जाना जाता है तब वह ज्ञान बनता है और जो जाना जाता है वह ज्ञेय बनता है। चैतन्य मे जानने की क्षमता है इसलिए वह ज्ञान बनता है और पदार्थ मे ज्ञान का विषय बनने की क्षमता है इसलिए वह ज्ञेय बनता है। इसीलिए जैन दार्शनिको ने ज्ञेय से पूर्व ज्ञान की मीमासा की है।

1 साख्यकारिका, 4
2 तत्वार्थ राजवार्तिक 1/10
प्रमेयसिद्धि प्रमाणाधीना।
3 उत्तरज्झयणाणि, 28/4-14

प्रमेय के विषय में दो मत हैं। कुछ दर्शन प्रमेय की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं और कुछ नकारते हैं, किन्तु प्रमाण के विषय में दो मत नहीं हैं। प्रमेय की वास्तविकता और अवास्तविकता—दोनों ही प्रमाण के द्वारा सिद्ध की जाती हैं। इसलिए सर्वप्रथम प्रमाण की चर्चा करना आवश्यक है।

प्रमाण संख्या

प्रमाणों की संख्या के विषय में सब दर्शन एकमत नहीं हैं। चार्वाक दर्शन ने एक प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकृति दी है। बौद्ध और वैशेषिक दर्शन में दो प्रमाण सम्मत हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। जैन दर्शन भी दो प्रमाणों को स्वीकार करता है प्रत्यक्ष और परोक्ष। सांख्य दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकृत हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक दर्शन प्रमाण-चतुष्टयी को मान्यता देता है प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। मीमांसक दर्शन में प्रभाकर ने 'अर्थापत्ति को जोड़कर पांच और कुमारिल ने 'अभाव के साथ छह प्रमाण स्वीकृत किए हैं। महर्षि चरक ने 'युक्ति' सहित सात और पौराणिकों ने 'ऐतिह्य के साथ आठ प्रमाण माने हैं। प्रमाणों की संख्या का और भी विस्तार किया जा सकता है। प्रामाणिकों ने प्रमाण-संख्या के संदर्भ में एकमति क्यों नहीं प्रदर्शित की? नाना मतियां क्यों स्वीकृत हुईं? इसके हेतु की खोज आवश्यक है।

उपादान के नानात्व से प्रमाण का नानात्व

प्रमाण के उपादान चार हैं

1. इन्द्रिय-ज्ञान।
2. मानसिक-ज्ञान।
3. प्रज्ञा।
4. अतीन्द्रिय-ज्ञान।

जिन दार्शनिकों ने केवल इन्द्रिय-ज्ञान को ही निर्णायक माना उनके सामने केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के अतिरिक्त कोई विकल्प शेष नहीं रहा। भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन ने इन्द्रिय-ज्ञान को ही सत्य की शोध का साधन माना था। उसका अभ्युपगम है कि जो इन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है वह यथार्थ है, शेष अयथार्थ। इन्द्रियातीत ज्ञान कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब जानने की मर्यादा केवल इन्द्रिय-ज्ञान है तब प्रत्यक्ष के सिवाय कोई प्रमाण हो नहीं सकता। एक प्रत्यक्ष प्रमाण की स्वीकृति के कारण चार्वाक दर्शन के अनुयायियों को व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनके समाधान के लिए उन्होंने 'अनुमान' की उपादेयता स्वीकृत की। यह स्वीकृति मात्र औपचारिक है, व्यवहार-सिद्धि के लिए है, किन्तु वास्तविक नहीं है।

ईसा की सोलहवी शती के सुप्रसिद्ध दार्शनिक फ्रासिस बेकन (Francis Bacon) ने इन्द्रियानुभव के सिद्धान्त को सर्वोपरि महत्व दिया और अतीन्द्रिय परमार्थ को असत्य एव काल्पनिक बतलाया। उनके मतानुसार जो इन्द्रियानुभूत नही है वह यथार्थ नही है, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही है वह सत्य नही है। इन्द्रियवादी दार्शनिको ने भी प्रज्ञा को स्वीकृति दी है। बेकन के अनुसार केवल इन्द्रियानुभव पर्याप्त नही है, आगमनात्मक तर्क भी आवश्यक है। सर्वप्रथम हम इन्द्रियानुभव के द्वारा घटनाओ और तथ्यो का सकलन करें, फिर उनका विश्लेषण करें। विश्लेषण मे प्राप्त तुलना और विरोध के आधार पर सामान्य नियम (व्याप्ति) या हेतु की खोज करें। इस प्रकार बेकन ने प्रत्यक्षवाद और प्रज्ञावाद का समन्वय किया है।

इन्द्रिय-ज्ञान, मानसिक-ज्ञान और प्रज्ञा ये तीनो शरीराधिष्ठान की सीमा मे आते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान का उपकरण मस्तिष्क तथा शरीरगत इन्द्रिय अधिष्ठान है। मन और प्रज्ञा का उपकरण मस्तिष्क है। भारतीय चिन्तको ने इस शरीर-निमित्तक ज्ञान से आगे भी प्रस्थान किया। उनके प्रस्थान का सार यह है इन्द्रिय, मन और प्रज्ञा से परे भी ज्ञान है। वह प्रस्थान न बौद्धिक था और न तार्किक। उसका अनुभव यौगिक अभ्यास के द्वारा प्राप्त था। उन्होने निर्विकल्प साधना का अभ्यास किया, जहा इन्द्रिय समाप्त, मन समाप्त, बुद्धि और तर्क समाप्त, विकल्प-मात्र समाप्त हो जाते हैं। उस निर्विकल्प भूमिका मे उन्हे साक्षात् अनुभव हुआ, तब उन्होने अतीन्द्रिय-ज्ञान को स्वीकृति दी। वह ज्ञान इन्द्रियातीत, मनोतीत और प्रज्ञातीत है। उसमे शरीर का कोई उपकरण सहयोग नही करता या शरीर के किसी भी उपकरण की सहायता अपेक्षित नही होती। इस अतीन्द्रिय-ज्ञान की स्वीकृति ने आगम प्रमाण की स्वीकृति दी। आगम का अर्थ है अतीन्द्रियज्ञान की स्वीकृति। यदि अतीन्द्रियज्ञान की स्वीकृति नही होती तो आगम का प्रामाण्य प्रमाण की शृखला मे नही जुडता।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जिसे इन्द्रियातीत-ज्ञान प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण सत्य को जान लेता है, देख लेता है।[4] भारतीय दर्शनो ने अतीन्द्रियज्ञान को किसी-न-किसी रूप मे मान्यता दी है। जैन और बौद्ध दार्शनिको ने पुरुष मे अतीन्द्रियज्ञान को स्वीकार किया है। ईश्वरवादी दार्शनिको ने ईश्वर को अतीन्द्रिय-ज्ञानी माना है। साख्य, नैयायिक, वैशेषिक और मीमासक ये सभी दर्शन 'आगम' को प्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार परोक्ष प्रमाण के पाच प्रकार हैं। उनमे

4 पवयणसार, 29,

जाणदि पस्सदि णियद, अक्खातीदो जगमसेस।

पाचवा प्रकार 'आगम' है ।[5] उपादान तत्त्व की भिन्नता के कारण प्रमाण-शक्ति की भिन्न-भिन्न मर्यादाए स्वीकृत हुई हैं ।

प्रमाण-शक्ति के नानात्व से प्रमेय-व्यवस्था का नानात्व

प्रमाण की नाना स्वीकृतिया हैं, अत प्रमेय की नाना स्वीकृतिया हुई हैं। विभिन्न दर्शनो ने तत्वो की विभिन्नता स्वीकार की है। जैन दर्शन मे षट् द्रव्य और नौ तत्त्व सम्मत हैं। साख्य दर्शन मे पच्चीस, बौद्ध दर्शन मे चार आर्य सत्य, नैयायिक दर्शन मे सोलह और वैशेषिक दर्शन मे सात तत्त्व मान्य हैं। यदि प्रमाण एकरूप होता तो प्रमेय की स्वीकृति भी एकरूप होती। वह एकरूप नही है इसलिए प्रमेय की व्यवस्था भी एकरूप नही है। विषय की स्पष्टता के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं

(1) इन्द्रियवादी दर्शन प्रमेय को मूर्त्त और स्थूल मानते हैं। अतीन्द्रियवादी दर्शन अमूर्त्त और सूक्ष्म तत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय मे अनात्मवाद, एकात्मवाद और अनेकात्मवाद ये तीन स्वीकृतिया मिलती हैं। इन्द्रियवादी दर्शन अनात्मवादी हैं। आत्मा इन्द्रियगम्य नही है इसलिए इन्द्रियवादी उसे स्वीकृति नही दे सकते। अतीन्द्रियवादी आत्मा को स्वीकृति देते हैं। उनमे भी दो स्वीकृतिया हैं। वेदान्त और सग्राहकदृष्टि वाले दार्शनिको ने एकात्मवाद को स्वीकृति दी है। जैन दर्शन ने अनेकात्मवाद को स्वीकृति दी है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन भी अनेकात्मवादी है।

(2) अनित्य और नित्य के विषय मे भी अनेक स्वीकृतिया हैं, जैसे अनित्यवाद, नित्यवाद और नित्यानित्यवाद। बौद्ध दर्शन ने सब पदार्थों को अनित्य माना है। साख्य दर्शन नित्यवादी है। नैयायिक नित्यानित्यवादी हैं। वे आकाश और आत्मा को नित्य मानते हैं तथा दीपशिखा आदि को अनित्य मानते हैं। जैन दर्शन भी नित्यानित्यवादी है। किन्तु उसके नित्यानित्यत्व का सिद्धान्त नैयायिक दर्शन जैसा नही है। जैन दर्शन के अनुसार आकाश से लेकर दीपशिखा तक के सभी पदार्थ नित्यानित्य हैं। आकाश केवल नित्य ही नही है और दीपशिखा केवल अनित्य ही नही है। आकाश मे स्वभावगत परिणमन होता है इसलिए वह अनित्य भी है और दीपशिखा के परमाणु ध्रुव हैं इसलिए वह नित्य भी है। स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार कोई द्रव्य केवल नित्य या केवल अनित्य नही होता है।[6]

5 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 3/2.
स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पञ्चप्रकारम्।

6 अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक 5
आदीपमाव्योमसमस्वभाव, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापा ॥

(3) असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद और सदसत्कार्यवाद ये भी प्रमेय-व्यवस्था के भेद की स्वीकृतिया हैं। साख्य दर्शन सत्कार्यवादी या परिणामवादी है। उसके अनुसार कारण मे कार्य की सत्ता होती है। सर्वथा असत्कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती। उपादान मे कार्य का सद्भाव होता है। सब कारणो से सब कार्य उत्पन्न नही होते। समर्थ कारण भी शक्य कार्य को ही उत्पन्न करता है, अत कारण मे कार्य की सत्ता अविवाद है।[7] कार्य कारण मे शक्तिरूप से रहता है।

वैशेषिक दर्शन असत्कार्यवादी (आरभवादी) है। उसके अनुसार परमाणुओ के सयोग से एक–अवयवी द्रव्य उत्पन्न होता है। उत्पत्ति से पूर्व उसकी सत्ता नही होती।

बौद्ध दर्शन भी असत्कार्यवादी है। उसके अनुसार पूर्व और उत्तर क्षण के साथ वर्तमान क्षण का वास्तविक सबध नही होता।

जैन दर्शन सदसत्कार्यवादी (परिणामिनित्यत्ववादी) है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सत् नष्ट नही होता और असत् उत्पन्न नही होता, इसलिए सत्कार्यवाद सगत है।[8] पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सत् विनष्ट और असत् उत्पन्न होता रहता है, इसलिए असत्कार्यवाद भी सगत है। जीव चैतन्यगुण से कभी च्युत नही होता, इसलिए कहा जा सकता है कि सत् का विनाश नही होता और असत् का उत्पाद नही होता।[9] जीव निरतर विविध अवस्थाओ मे परिणमन करता रहता है, इसलिए कहा जा सकता है कि सत् का विनाश होता है और असत् का उत्पाद होता है।[10]

सत्कार्यवाद के अनुसार दही दूध का परिणमन मात्र है, इसलिए उन दोनो मे कोई भेद नही है। असत्कार्यवाद के अनुसार वस्त्र धागो से निष्पन्न एक कार्य है, इसलिए वह कारण से भिन्न है। सदसत्कार्यवाद के अनुसार मिट्टी के परमाणुओ मे घट और पटरूप मे परिणमन करने की योग्यता है, पर मिट्टी के पिडरूप पर्याय मे पटरूप मे परिणत होने की साक्षात् योग्यता नही है। उसमे घटरूप मे

7 साख्यकारिका, 9

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

8 पचास्तिकाय, 15

भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो।

9 पचास्तिकाय, 19

एव सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।

10 पचास्तिकाय, 60

एव सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो।

परिणत होने की साक्षात् योग्यता है। भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न उपादानों से उत्पन्न होते हैं। सबका उपादान एक नही है। द्रव्य-योग्यता और पर्याय-योग्यता -दोनो का समन्वय करने पर ही सत् और असत् की व्याख्या की जा सकती है। दूध के परमाणुओं मे दहीरूप मे परिणत होने की योग्यता साक्षात् पर्याय की दृष्टि से है, व्यवहित पर्यायो की दृष्टि से दूध के परमाणु कपास के परमाणुओं मे बदल सकते हैं। दूध स्वय परमाणुओ का एक पर्याय है। और कोई भी पर्याय चिरतन नही होता। चिरतन परमाणु हैं। दूध, दही, मिट्टी, कपास ये सब उनके पर्याय हैं, इसलिए परमाणुओ के किसी एक पर्याय से साक्षात् उत्पन्न होने वाले पर्याय को सत् और व्यवहितरूप से उत्पन्न होने वाले पर्याय को असत् कहा जाता है। इस प्रकार सत् और असत् पर्याय के आधार पर भी सदसत्कार्यवाद की व्याख्या की जा सकती है।

(4) दर्शन के क्षेत्र मे दो धाराए हैं वस्तुवादी और अवस्तुवादी या आदर्शवादी। इन्द्रियवादी दार्शनिको का यह अभ्युपगम है कि दृष्टिगोचर पदार्थ ही वास्तविक है। जैन, नैयायिक, वैशेषिक और साख्य दर्शन के अनुसार भी इन्द्रिय-गम्य पदार्थ अवास्तविक नही हैं। बौद्ध दर्शन की दो शाखाए—हीनयान और विज्ञानवादी—इन्द्रियगम्य पदार्थों को वास्तविक नही मानती। उनके अनुसार सवेदन के अतिरिक्त जो सवेद्य है वह वास्तविक नही है। वह काल्पनिक है, स्वप्नोपम है या मृगमरीचिका की भाति भ्रान्त है। आचार्य शकर के वेदान्त की भी यही स्वीकृति है। पश्चिमी दार्शनिक ह्यूम और बर्कले ने भी सवेदन-प्रवाह के अतिरिक्त सवेद्य का कोई वास्तविक अस्तित्व स्वीकार नही किया। जितने भी ज्ञानवादी दार्शनिक हैं उन सबने वस्तुओ के वास्तविक अस्तित्व की अस्वीकृति की है।

न्याय की परिभाषा

वस्तु का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। ज्ञाता उसे जाने या न जाने, इसमे उसके अस्तित्व मे कोई अन्तर नहीं आता। वह ज्ञाता के द्वारा जानी जाती है तब प्रमेय बन जाती है और ज्ञाता जिससे जानता है वह ज्ञान यदि सम्यक् या निर्णायक होता है तो प्रमाण बन जाता है। इसी आधार पर न्यायशास्त्र की परिभाषा निर्धारित की गई। न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण के द्वारा अर्थ का परीक्षण 'न्याय कहलाता है।[11] उमास्वाति के अनुसार अर्थ का अधिगम प्रमाण और नय के द्वारा होता है।[12] इस सूत्र के आधार पर जैन तर्क-परम्परा मे

11 न्यायभाष्य, 1/1/1
प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।

12 तत्वार्थसूत्र, 1/6
प्रमाणनयैरधिगमः।

न्याय की परिभाषा इस प्रकार होगी 'प्रमाणनयैरर्थाधिगमो न्याय'—प्रमाण और नय के द्वारा अर्थ का अधिगम (निर्णय या परीक्षण) करना 'न्याय' है। उद्योतकर ने प्रमाण-व्यापार के द्वारा किये जाने वाले अर्थाधिगम को 'न्याय' माना है।[13] जैन परम्परा मे 'न्याय' की अपेक्षा 'युक्ति' शब्द अधिक प्रचलित रहा है। यतिवृषभ का अभिमत है कि जो व्यक्ति प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा अर्थ का निरीक्षण नही करता, उसे युक्त अयुक्त और अयुक्त युक्त प्रतीत होता है।[14]

प्रमाण का अर्थ है सम्यग् ज्ञान। नय का अर्थ है वस्तु के एक धर्म को जानने वाला ज्ञाता का अभिप्राय। निक्षेप का अर्थ है—प्रस्तुत अर्थ को जानने का उपाय। प्रमाण, नय और निक्षेप की युक्ति के द्वारा होने वाला अर्थ का अधिगम 'न्याय' है। यतिवृषभ के शब्दो मे यह न्याय आचार्य परम्परा से चला आ रहा है।[15] आचार्य समन्तभद्र के अभिमत मे जैन-न्याय का प्रतिनिधि शब्द 'स्यात्' है। वह सर्वथा विधि और सर्वथा निषेध को स्वीकार नही करता। उसके अनुसार विधि और निषेध दोनो सापेक्ष है।[16] जैन परम्परा के अनुसार समूचा प्रमाण-शास्त्र या न्यायशास्त्र स्याद्वाद की मर्यादा का अतिक्रमण नही करता। उक्त तथ्यो के आधार पर जैन तर्क-परम्परा के अनुसार न्याय की परिभाषा यह होगी प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा किया जाने वाला वस्तु का सापेक्ष अधिगम 'न्याय' है।

जैन न्याय के तीन युग

जैन न्याय तीन युगो मे विभक्त होता है

1, आगमयुग का जैन-न्याय।

13 न्यायवार्त्तिक,

समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्याय ।

14 तिलोयपण्णत्ती, 1/82

जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेण णिरक्खदे अत्थ।
तस्साजुत्त जुत्त जुत्तमजुत्त च पडिहादि ॥

15 तिलोयपण्णत्ती, 1/83,84

णाण होदि पमाण णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो।
णिक्खेवो वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहण ॥

इय णाय अवहारिय आइरियपरपरागद मणसा।
पुव्वाइरियाआरणागुसरणअ तिरयणणिमित्त ॥

16 स्वयभूस्तोत्र, 102

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षक ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

2 दर्शनयुग का जैन-न्याय ।
3 प्रमाण-व्यवस्थायुग का जैन-न्याय ।

महावीर का अस्तित्व काल ई० पू० 599–527 है। उस समय से ईसा की पहली शती तक का युग आगमयुग है। ईसा की दूसरी शती से दर्शनयुग का प्रारम्भ होता है। ईसा की आठवी-नौवी शती से प्रमाण-व्यवस्थायुग का प्रारम्भ होता है।

आगमयुग का जैन न्याय

आगमयुग के न्याय मे ज्ञान और दर्शन की विशद चर्चा प्राप्त है। आवृत चेतना के दो रूप होते है लब्धि और उपयोग। ज्ञेय को जानने की क्षमता का विकास लब्धि है और जानने की प्रवृत्ति का नाम उपयोग है। उपयोग दो प्रकार का होता है साकार और अनाकार। आकार का अर्थ है विकल्प।[17] आकार सहित चेतना का व्यापार 'साकार' (सविकल्प) उपयोग कहलाता है। इसे ज्ञान कहा जाता है। आकार रहित चेतना का व्यापार 'अनाकार' उपयोग कहलाता है। इसे दर्शन कहा जाता है। जैन आगमो मे सविकल्प और निर्विकल्प शब्दो का प्रयोग नही मिलता। साकार और अनाकार का प्रयोग वहुत प्राचीन है। साकार और सविकल्प तथा अनाकार और निर्विकल्प मे अर्थ-भेद नही है। दर्शन चेतना निर्विकल्प और ज्ञानचेतना सविकल्प होती है।

जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान है। आत्मा ज्ञाता है। वह ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को जानता है। ज्ञान उसका गुण है। आत्मा और ज्ञान मे गुणी और गुण का सम्वन्ध है। गुण गुणी से सर्वथा अभिन्न नही होता और सर्वथा भिन्न भी नही होता। आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है इस विवक्षा से वह आत्मा से कथचिद् भिन्न है। ज्ञान आत्मा के ही होता है इस विवक्षा से वह आत्मा से कथचिद् अभिन्न है।

ज्ञान के पाच प्रकार है

1. मति
2. श्रुत
3. अवधि
4. मन पर्यव
5. केवल

मति और श्रुत ये दो इन्द्रियज्ञान और शेष तीन अतीन्द्रियज्ञान है।

17 तत्वार्थवार्तिक, 1/12
आकारो विकल्प ।

चार ज्ञान केवल स्वार्थ स्वबोध के लिए है। श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनो है।[18] ज्ञान स्व-प्रत्यायक ही होता है। पर-प्रत्यायक होता है शब्द। श्रुतज्ञान भी पर-प्रत्यायक नही है। शब्द का उससे सम्बन्ध है। इस सम्बन्धोपचार के कारण श्रुतज्ञान को पर-प्रत्यायक माना गया है।[19] ज्ञान के इस वर्गीकरण मे प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग मुख्य नही है।[20] दूसरे वर्गीकरण मे प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग मुख्य है[21] इन्द्रियज्ञान परोक्ष और अतीन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष।

आचार्य कुन्दकुन्द का तर्क है कि इन्द्रिया आत्मिक नही है। वे पर-द्रव्य है। जो पर है वह आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकता है? जो आत्मा का स्वभाव नही है, उसके द्वारा उपलब्ध ज्ञान आत्मा के प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? इसलिए पर के द्वारा होने वाला जो ज्ञान है, वह परोक्ष है।[22] प्रत्यक्ष ज्ञान वही है जो केवल आत्मा से होता है, जिसमे इन्द्रिय, मन और प्रज्ञा की सहायता अपेक्षित नही होती।[23] जिस ज्ञान के द्वारा अमूर्त द्रव्य और अतीन्द्रिय मूर्त्त द्रव्य तथा प्रच्छन्न द्रव्य जाने जा सकते हैं वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।[24] अविद्यमान पर्याय को इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा नही जाना जा सकता किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। स्थूल पर्याय मे अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्याय इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा नही जाना जा सकता किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान

18 अणुओगद्दाराइ, 2

तत्थ चत्तारि नाणाइ ठप्पाइ ठवणिज्जाइ, "सुयनाणस्स उद्देसो,
समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ।

19 विशेषावश्यकभाष्य, 172,173

ण परप्पवोधयाइ ज दो वि सरूवतो मतिसुताइ।
तक्कारणाइ दोण्ह वि वोधेन्ति ततो ण भेतो सिं॥
दव्वसुतमसाधारणकारणतो परविवोधक होज्जा।

20 भगवती, 8, 2 317

21 ठाण, 2, 1 103.

22 प्रवचनसार, 57,58.

परदव्व ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्ध तेहि कध पच्चक्ख अप्पणो होदि॥
ज परदो विण्णाय त तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।

23 प्रवचनसार, 58'

जहि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्ख॥

24 प्रवचनसार, 54

ज पेच्छदो अमुत्त मुत्तेसु अदिदिय च पच्छण्ण।
सयल सग च इदर त णाण हवदि पच्चक्ख॥

के द्वारा जाना सकता है। अत इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान परोक्ष तथा केवल आत्मा के द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान को परोक्ष मानने का दूसरा कारण यह है कि उसमे संशय और विपर्यय का अवकाश रहता है। जिनभद्रगणी ने इसके समर्थन मे लिखा है संशय और विपर्यय की संभावना के कारण इन्द्रिय-ज्ञान और मनोज्ञान परोक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये नही होते।[25]

ज्ञान का स्वरूप

आत्मा की चेतना एक और अखण्ड है। वह सूर्य की भांति सहज प्रदीप्त है। उसके दो रूप होते है अनावृत और आवृत। पूर्णतया अनावृत चेतना का नाम केवल ज्ञान है। यह स्वभाव-ज्ञान है। इसे निरुपाधिक-ज्ञान भी कहा जाता है। अनावृत चेतना की अवस्था मे जानने का प्रयत्न नही करना होता, इसलिए वह ज्ञान सहज होता है। आवृत अवस्था मे भी चेतना सर्वथा आवृत नही होती। वह कुछ न कुछ अनावृत रहती ही है। सूर्य को आवृत करने वाले बादल सघन होते हैं तो प्रकाश मंदतर होता हैं। पर दिन-रात का विभाग हो सके इतना प्रकाश अवश्य रहता है। चेतना पर आवरण सघन होता है तो ज्ञान मंद होता है। वह सघनतर होता है तो ज्ञान मन्दतर होता है। फिर भी जीव-अजीव का विभाग हो सके इतना चैतन्य निश्चित ही अनावृत रहता है। यह ज्ञान विभावज्ञान या सोपाधिकज्ञान है।[26] ज्ञान केवल इन्द्रियानुभव से होने वाला प्रत्यय या विज्ञान ही नही है, वह आत्मा का स्वरूप है। वह आत्मा के साथ निरन्तर रहता है। हम ज्ञान को जन्म के साथ लाते हैं और मृत्यु के साथ उसे ले जाते हैं। आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध इस पौद्गलिक शरीर जैसा नही है जो जन्म के साथ बने और मृत्यु के साथ छूट जाए। आत्मा उस कोरे कागज जैसा नही है जिस पर अनुभव अपने संवेदन और स्व-संवेदनरूपी अंगुलियो से ज्ञानरूपी अक्षर लिखता रहे।

ज्ञान का मूल स्रोत और उत्पत्ति

ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है और वह न्यूनाधिक मात्रा मे अनावृत रहता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान का मूल स्रोत चैतन्य की

25 विशेषावश्यकभाष्य, 93

इंदियमणोनिमित्त परोक्खमिह संसयाइभावाओ।
तक्कारण परोक्ख जहेह साभाससमणुमाण ॥

26 नियमसार, 11

केवलमिंदियरहिय असहाय त सहावणाण त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाण हवे दुविह ॥

अनावृत अवस्था है। इसके अतिरिक्त तीन स्रोत और हैं— इन्द्रिय, मन और आत्मा। हमारा इन्द्रिय-विकास चैतन्य-विकास के आधार पर होता है। ज्ञान-विकास की तरतमता के आधार पर शारीरिक इन्द्रियो की रचना मे भी तरतमता होती है। मानसिक विकास भी चैतन्य-विकास पर निर्भर है। इन्द्रिय और मन की सहायता के विना होने वाला ज्ञान केवल आत्मा पर निर्भर होता है। इस प्रकार चैतन्य-विकास की दृष्टि से ज्ञान के मूल स्रोत तीन हैं इन्द्रिय, मन और आत्मा।

ज्ञान की उत्पत्ति अन्तरग और वहिरग दोनो कारणो से होती है। वाहरी पदार्थों का उचित सामीप्य होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है तो आन्तरिक मनन के द्वारा भी ज्ञान उत्पन्न होता है।

ज्ञान की सीमा

इन्द्रिया पाच है स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। प्रत्येक इन्द्रिय मे एक–एक विषय को जानने की क्षमता होती है।[27]

1 स्पर्शन – स्पर्श।

2 रसन – रस।

3 घ्राण – गन्ध।

4 चक्षु – रूप।

5 श्रोत्र – शब्द।

ये विषय इन्द्रिय-ज्ञान को उत्पन्न नही करते किन्तु इनका उचित सामीप्य होने पर ज्ञाता अपने प्रयत्न से इन्द्रियो के द्वारा उन्हे जान लेता है। इन्द्रिया द्रव्य को साक्षात् नही जानती। एक गुण या पर्याय के माध्यम से उसे जान सकती है, इसलिए इन्द्रियो का पर्याय-ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और द्रव्य-ज्ञान परोक्ष। वे केवल वर्तमान को जानती हैं। अतीत और भविष्य को जानने की क्षमता उनमे नही है। अनुभववादी दार्शनिक केवल इन्द्रियानुभव को ही वास्तविक ज्ञान मानते हैं, किन्तु इन्द्रियो के विखरे हुए ज्ञान का सकलन करने वाला कोई ज्ञान न हो तो हम किसी भी सामान्य नियमनिर्धारण नही कर सकते। मन स्पर्श आदि विषयो को साक्षात् नही जानता, इन्द्रियो के माध्यम से ही जानता है। अत वह वस्तु-स्पर्शी नही है पर उसमे इन्द्रियो द्वारा गृहीत सव विषयो का सकलन और त्रैकालिक पर्यालोचन करने

---

27 जैनसिद्धान्त दीपिका, 2/27

प्रतिनियतार्थग्रहणमिन्द्रियम।

की क्षमता है ।[28] इस दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा मानसिक-ज्ञान अधिक विकसित है ।

इन्द्रियों के द्वारा जो अनुभव अर्जित होते है, वे प्रत्यय या विज्ञान कहलाते है। हम केवल विज्ञानों को ही नही जानते किन्तु ऐसे नियमो और सबंधो को भी जान लेते है जो पहले ज्ञात नही होते। ज्ञान की इस क्षमता का नाम प्रज्ञा या बुद्धि है ।[29] इन्द्रिय–ज्ञान, मानसिक-ज्ञान और प्रज्ञा–यह मतिज्ञान की सीमा है ।

हम सकेतो और शब्दो के माध्यम से भी ज्ञेय विषय को जान लेते हैं। हम अग्नि नामक पदार्थ को देखकर उसके वाचक शब्द को जानने का प्रयत्न करते हैं, अथवा अग्नि शब्द का अर्थबोध कर उसके वाच्य-अर्थ को जानने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रज्वलित पदार्थ अग्नि शब्द का वाच्य है, इस प्रकार वाच्य-वाचक सबध की योजना से होने वाले ज्ञान, अध्ययन से प्राप्त ज्ञान और प्रायोगिक ज्ञान की निश्चायकता श्रुतज्ञान की सीमा है ।

मूर्त द्रव्यो का साक्षात् ज्ञान करना अवधि ज्ञान की सीमा है ।

मन का साक्षात् ज्ञान करना मन पर्यव-ज्ञान की सीमा है ।

केवल ज्ञान सर्वथा अनावृत ज्ञान है, इसलिए उसमे सब द्रव्यो और पर्यायो को साक्षात् जानने की क्षमता है। यही उसकी सीमा है ।

इन्द्रिय-ज्ञान और प्रमाणशास्त्र

अतीन्द्रिय ज्ञान एक विशिष्ट उपलब्धि है। वह सार्वजनिक नही है, इसलिए वह न्याय–शास्त्र का बहुचर्चित भाग नही है। उसका बहुचर्चित भाग इन्द्रिय–ज्ञान (मति–श्रुत ज्ञान) है। मतिज्ञान क्रमिक होता है। उसका क्रम यह है

1 विषय और विषयी का सन्निपात ।

2. दर्शन निर्विकल्प बोध, सत्तामात्र का बोध ।

3 अवग्रह 'कुछ है' की प्रतीति ।

4 ईहा 'यह होना चाहिए' इस आकार का ज्ञान ।

5 अवाय 'यही है' इस प्रकार का निर्णय ।

28 जैनसिद्धान्त दीपिका, 2/33
सर्वार्थग्राहि त्रैकालिक मन ।

29 नदीसूत्र (37) मे मतिज्ञान के दो प्रकार बतलाए गए हैं श्रुतनिश्रित मति और अश्रुतनिश्रित मति। विज्ञानो को जानने वाली मति को श्रुत-निश्रित और प्रज्ञा द्वारा अज्ञात विधि-निषेध के नियमो और सबधो को जानने वाली मति को अश्रुतनिश्रित कहा जाता है ।

6 धारणा निर्णीत विषय की स्थिरता, वासना, संस्कार ।

7 स्मृति संस्कार के जागरण से होने वाला 'वह'—इस आकार का बोध ।

8 संज्ञा स्मृति और प्रत्यक्ष से होने वाला 'यह वह है' इस आकार का बोध ।

9 चिन्ता 'धूम अग्नि के होने पर ही होता है' इस प्रकार के नियमो का निर्णायक बोध, तर्क या ऊह ।

10 अभिनिबोध हेतु से होने वाला साध्य का ज्ञान, अनुमान ।

हेतु चार प्रकार का होता है

1 विधि-साधक विधि हेतु
2 विधि-साधक निषेध हेतु
3 निषेध-साधक विधि हेतु
4 निषेध-साधक निषेध हेतु

विषय-विषयी के सन्निपात और दर्शन के बिना अवग्रह नही होता । अवग्रह के बिना ईहा, ईहा के बिना अवाय, अवाय के बिना धारणा, धारणा के बिना स्मृति, स्मृति के बिना सज्ञा, सज्ञा के बिना चिन्ता और चिन्ता के बिना अभिनिबोध नही हो सकता ।

श्रुतज्ञान का विस्तार दो रूपो मे हुआ है एक स्याद्वाद और दूसरा नय । जैन तार्किको ने प्रमेय की व्यवस्था श्रुतज्ञान (आगम) के आधार पर की, स्याद्वाद और नय के द्वारा की । प्रामाणिको की परिषद् मे श्रुतज्ञान का ही आलवन लिया गया और उसी के आधार पर न्याय का विकास हुआ । उसे इस भाषा मे प्रस्तुत किया जा सकता है—'जावइया वयणपहा तावइया हुति सुयविगप्पा' जितने वचन के प्रकार है उतने ही श्रुतज्ञान के विकल्प हैं । वे असख्य है । प्रमाण भी असख्य हो सकते हैं । हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो यह प्राप्त होगा कि देखने, सोचने और कहने के जितने निर्णायक प्रकार हैं उतने प्रमाण हैं । नय के विषय मे यही बात कही गई है 'जावइया वयणपहा तावइया हुति नयवाया' जितने बोलने के प्रकार उतने ही नय । जितने आशय, जितनी स्वीकृतिया उतने ही नय । इसका अर्थ यह हुआ कि जैन न्याय के अनुसार प्रमाणो का सख्याकरण सापेक्ष है ।

× × ×

1 क्या आगम से अतीन्द्रियज्ञान प्राप्त होता है ? क्या अतीन्द्रियज्ञानी वाणी का प्रयोग नही करता ? क्या उसके विकल्प नही होते ?

आगम से अतीन्द्रिय तत्वो का ज्ञान प्राप्त हो सकता है किन्तु वह अतीन्द्रिय-ज्ञान की उपलब्धि का साधन नही है । उसका साधन है ध्यान का सूक्ष्मतम

अभ्यास । वह शब्द की भावना से नही किन्तु निर्विकल्प अवस्था की अनुभूति से होता है । उसमे शब्द समाप्त, विकल्प समाप्त और इन्द्रिय समाप्त । बाहर का सब कुछ समाप्त हो जाता है ।

आगम मे अतीन्द्रियज्ञान नही होता किन्तु जिन्हे अतीन्द्रियज्ञान प्राप्त होता है उनकी वाणी आगम हो जाती है । शब्द समाप्त होने का अर्थ यह नही कि अतीन्द्रियज्ञानी कुछ बोलता ही नही । विकल्प समाप्त होने का अर्थ यह नही कि अतीन्द्रियज्ञानी कुछ सोचता ही नही । नि शब्दता और निर्विकल्पता अतीन्द्रियज्ञान के काल मे ही होती है, क्रियाकाल मे नही ।

2 क्या प्रमेय प्रमाण-परतत्र है ?

प्रमेय की व्यवस्था प्रमाण के अधीन है— इसका अर्थ यह नही कि प्रमेय का अस्तित्व प्रमाण के अधीन है । प्रमेय भी स्वतन्त्र है और प्रमाण भी स्वतन्त्र है । दोनो का अपना-अपना अस्तित्व है । प्रमाण का काम प्रमेय को उत्पन्न करना नही है, किन्तु उसकी व्याख्या, विश्लेषण और वर्गीकरण करना है । यह व्यवस्था ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है । इसलिए प्रमेय की व्यवस्था को प्रमाणाधीन मानने मे कोई कठिनाई प्रतीत नही होती । पानी है, और हजारो वर्षो से वह है । पर पानी की व्याख्या ज्ञान के द्वारा ही की जा सकती है । पानी क्या है ? वह मूल द्रव्य है या यौगिक द्रव्य ? यह व्यवस्था ज्ञान के द्वारा होती है । जहा व्यवस्था का प्रश्न है वहा प्रमाण की प्राथमिकता होगी और प्रमेय की गौणता ।

3 हमारा सामान्य अनुभव यह है कि ज्ञान विकल्पो से होता है । निर्विकल्प स्थिति मे ध्यान हो सकता है, पर ज्ञान कैसे हो सकता है ?

हमारे पास विकल्प के दो माध्यम हैं मन और भाषा । जब हम विकल्प की स्थिति मे होते हैं तब उसकी अतल गहराई मे छिपा हुआ चैतन्य अनावृत नही होता । उसे अनावृत करने के लिए हमे श्वास, शरीर, भाषा और मन की चचलता का सवरण करना होता है । यही निर्विकल्प स्थिति है । यही चैतन्य के आवरण को तोडने की प्रक्रिया है । जब चैतन्य का आवरण टूटता है तब चैतन्य प्रगट हो जाता है, जो सहज है । केवल ज्ञान सूर्य की तरह प्रकाशपु ज है । सूर्य के आगे बादल आता है तो प्रकाश मे तारतम्य हो जाता है । प्रकाश की मदता और तीव्रता जैसे बादल की सघनता और विरलता पर आवृत है वैसे ही चैतन्य की स्पष्टता और अस्पष्टता आवरण की सघनता और विरलता पर आधृत है । निर्विकल्प चैतन्य की अनुभूति के द्वारा चैतन्य का आवरण विरल हो जाता है । यह आवरण जैसे-जैसे विरल होता है, वैसे-वैसे ज्ञान अभिव्यक्त होता है । अस्पष्टता और स्पष्टता से होने वाले ज्ञान के विभाजनो को श्रीमज्जयाचार्य ने एक चौकी के

उदाहरण के द्वारा समझाया है। जैसे एक चौकी रेत मे दवी हुई है। उसका एक कोना दिखाई दे रहा है। वह एक स्वतन्त्र वस्तु प्रतीत हो रही है। इसी प्रकार वालू के हटने पर दूसरा, तीसरा और चौथा कोना दिखाई दे तो चार वस्तुए प्रतीत होने लग जाती है। वालू पूरी चौकी पर से हट जाती है तो एक अखड चौकी प्रतीत होती है। इसी प्रकार इन्द्रियो की खिडकी से देखकर हम कहते हैं यह इन्द्रियज्ञान है। मस्तिष्क के माध्यम से चिन्तन करते है तव हम कह सकते है यह मनोज्ञान है माध्यमो से हम ज्ञान को वाट देते हैं। जव पूरा आवरण हट जाता है तव सारे विभाजन समाप्त हो जाते है। तव केवल ज्ञान शेष रहता है, निरुपाधिक-ज्ञान, शुद्धज्ञान, सहजज्ञान। केवलज्ञान का एक अर्थ होता है कोरा ज्ञान। इस भूमिका मे सवेदन समाप्त हो जाता है। जव तक सवेदन होता है तव तक शुद्ध ज्ञान नही होता, केवल ज्ञान नही होता। शुद्ध चैतन्य का अनुभव होने की स्थिति मे ज्ञान 'ध्यान वन जाता है और शुद्ध चैतन्य का पूर्ण उदय होने पर ध्यान केवल ज्ञान वन जाता है।

4 जैन-न्याय मे ज्ञान को पर-प्रकाशी ही माना गया है या स्व-प्रकाशी भी ?

ज्ञान स्व-पर-प्रकाशी है जो स्व-प्रकाशी नही होता वह पर-प्रकाशी भी नही हो सकता, जैसे—घट। जो प्रमेय अचेतन होता है वही दूसरो के द्वारा प्रकाशित होता है। ज्ञान यदि पर-प्रकाशी हो और स्व-प्रकाशी न हो तो उसे जानने के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होगी। फिर तीसरे ज्ञान की। इस शृ खला का कही अन्त नही होगा। अनवस्था कभी नही टूटेगी। सूर्य को देखने के लिए दूसरे सूर्य की अपेक्षा नही है क्योकि वह स्व-प्रकाशी भी है इस प्रकार ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नही है क्योकि वह स्व-प्रकाशी भी है।

5 क्या अतीन्द्रिय ज्ञान सर्वसम्मत है ? क्या हेतु के द्वारा उसे सिद्ध किया जा सकता है ?

जैन दर्शन ने अतीन्द्रियज्ञान को स्वीकृति दी है। साख्य, वौद्ध, न्याय, वैशेपिक, मीमासक आदि दर्शनो ने भी उसे मान्यता दी है। इस स्वीकृति मे एक अन्तर है। मीमासक मनुष्य को अतीन्द्रियज्ञानी नही मानते। न्याय और वैशेषिक दर्शन भी मनुष्य के ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान से प्रकाशित मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य अतीन्द्रियज्ञानी हो सकता है।

अमूर्त पदार्थ और अतीन्द्रियज्ञान दोनो हेतु की सीमा मे नही आते। हेतु का आधार है व्याप्ति और व्याप्ति का आधार है इन्द्रियज्ञान और मानसज्ञान।

जो पुरुष अपने ध्यान-वल से अतीन्द्रियज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, उनकी वाणी पर हम विश्वास करते हैं, तभी हम कहते है कि अतीन्द्रियज्ञान होता है। वह ज्ञान

मुझे भी प्राप्त नही है और आपको भी प्राप्त नही है मैं भी मान्यता के आधार पर कहता हू कि वह होता है और आप भी मान्यता के आधार पर कहते हैं कि वह नही होता। जिसने ध्यान का अभ्यास किया है वह इस सच्चाई के निकट पहुच जाता है कि अतीन्द्रियज्ञान उपलब्ध हो सकता है। उसका प्राथमिक रूप है प्रज्ञा। योग की भाषा मे उसे प्रातिभज्ञान कहते हैं। उसकी क्षमता हम सब मे है। जीवन मे हम कई बार उसका अनुभव करते हैं। मन मे आया मित्र आएगा। दरवाजा खोला और मित्र आ गया। "श्वो मे भ्राता आगमिष्यति" 'कल मेरा भाई आएगा' यह आभास होता है और दूसरे दिन भाई आ भी जाता है। हम अपनी प्रतिभा का उपयोग कम करते हैं इसलिए उससे अपरिचित हैं। हमारी अपेक्षा पशु-पक्षी अपनी अतीन्द्रियज्ञान की शक्ति का अधिक उपयोग करते हैं। प्राणीशास्त्रियो के अनुसार अनेक पशु-पक्षी तूफान, भूचाल, ज्वालामुखी आदि प्राकृतिक प्रकोपो को जान लेते हैं और वे वहा से दूर चले जाते हैं। मनुष्यो ने इन्द्रियो का आधार अधिक लिया इसलिए उनकी अतीन्द्रियज्ञान की क्षमता कम हो गई।

ज्ञान दो प्रकार का होता है उपदेश-निरपेक्ष और उपदेशजनित। जातिस्मृति (पूर्वजन्म का ज्ञान) और प्रातिभज्ञान उपदेश-निरपेक्ष ज्ञान है। इसलिए इन्हे सहजमति कहा जाता है। उपदेशजनित ज्ञान मे सदेह हो सकता है, किन्तु जो व्यक्ति अपने पूर्वजन्म को स्वय देख रहा है, या अपनी प्रतिभा से जिस सच्चाई को जान रहा है, उसे उस विषय मे सदेह कैसे होगा? भगवान् महावीर जातिस्मृति की प्रक्रिया बतला देते थे। साधक उस प्रक्रिया से जातिस्मृति को उपलब्ध हो जाता, फिर उसे अतीन्द्रियज्ञान मे सदेह नही होता। यतिभोज ने योग-दर्शन की वृत्ति मे लिखा है आचार्य अपने शिष्य को कोई ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करा दे जिससे उसे अपने साधना-मार्ग मे कोई सदेह न हो। अतीन्द्रियज्ञान का या तो अनुभव किया जा सकता है या उस पर विश्वास किया जा सकता है। किन्तु उसकी स्थापना के लिए कोई सर्व-सम्मत हेतु प्रस्तुत नही किया जा सकता।

□ □ □

2
दर्शन युग का जैन न्याय

दर्शन की मीमांसा ईसा पूर्व आठवी शताब्दी मे प्रारम्भ हो चुकी थी। ईसा की पहली शताब्दी तक उसमे योगीज्ञान या प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमुख था और तर्क गौण। उसके बाद दर्शन के क्षेत्र मे प्रमाण मीमांसा या न्याय-शास्त्र का विकास हुआ। दर्शन मे प्रमाण का महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए प्रमाण के द्वारा समर्थित दर्शनयुग का प्रारम्भ ईसा की दूसरी शताब्दी से होता है। इस युग मे प्रमाणशास्त्र या न्याय-शास्त्र का दर्शनशास्त्र के साथ गठबंधन हो गया।

प्रो० जेकोबी के अनुसार ई० 200–450, प्रो० ध्रुव के अनुसार ईसा पूर्व की शताब्दी मे गौतम ऋषि ने न्यायसूत्र की रचना की। ईसा की पहली शती मे कणाद ऋषि ने वैशेषिकसूत्र की रचना की। ईसा की चौथी शती मे बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। ई० पू० 6–7 वी शती मे कपिलमुनि ने सांख्यसूत्र का प्रणयन किया। ईसा की दूसरी से चौथी शती के बीच ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की रचना की।

न्याय-शास्त्र के विकास मे बौद्धो और नैयायिको ने पहल की। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन (ई० 300) ने गौतम के 'न्यायसूत्र' की आलोचना की। वात्स्यायन (ई० 400) ने 'न्यायसूत्र भाष्य' से उस आलोचना का उत्तर दिया। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग (ई० 500) ने वात्स्यायन के विचारो की समीक्षा की। उद्योतकर (ई० 600) ने 'न्यायवार्तिक' मे उनका उत्तर दिया। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति (ई० 700) ने 'न्यायविन्दु' मे उद्योतकर की समीक्षा की प्रत्यालोचना की। बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर (ई० 8–9 शती) ने 'न्यायविन्दु' की टीका मे दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अभ्युपगमो की पुष्टि की। वाचस्पति मिश्र (ई० 800) ने 'न्यायवार्तिक की तात्पर्य टीका' मे बौद्धो के आक्षेपो का निरसन कर उद्योतकर के अभ्युपगमो का समर्थन किया।

ईसा की तीसरी शताब्दी से आठवी शताब्दी तक बौद्धो और नैयायिको मे खडन-मडन का तीव्र सघर्ष चला। इस सघर्ष मे न्याय-शास्त्र के नये युग का सूत्रपात हुआ।

जहा दर्शनो का परस्पर सघर्ष होता है, सब दार्शनिक अपने-अपने अभ्युपगमो की स्थापना और दूसरो के अभ्युपगमो का निरसन करते हैं वहा आगम का गौण

और हेतु का मुख्य होना स्वाभाविक है। दार्शनिक साध्य की सिद्धि के लिए आगम का समर्थन नहीं चाहता, वह हेतु चाहता है।

आगम और हेतु का समन्वय

दर्शनयुगीन जैन न्याय की कुछ विशिष्ट उपलब्धियां हैं। पहली उपलब्धि है—आगम और हेतु का समन्वय। आगम युग में अंतिम प्रामाण्य आगम-ग्रन्थ या व्यक्ति का माना जाता था। मीमांसक अंतिम प्रामाण्य वेदों का मानते हैं। उनका अभिमत है कि वेद अपौरुषेय हैं पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं हैं। ईश्वरीय निर्देश हैं इसलिए अंतिम प्रामाण्य उन्हीं का हो सकता है। जैन आचार्य वीतराग मनुष्य को अंतिम प्रमाण मानते हैं। जैन परिभाषा में आगम का अर्थ होता है पुरुष। वह पुरुष जिसके सब दोष क्षीण हो जाते हैं, जो वीतराग या केवली बन जाता है। स्थानांग सूत्र में पांच व्यवहार निर्दिष्ट हैं आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और अभिन्नदशपूर्वी (नौ पूर्व तथा दसवें पूर्व की तीसरी आचारचूला को जानने वाला) ये छहों पुरुष आगम होते हैं। आगमपुरुष की उपस्थिति में वही सर्वोपरि प्रमाण है। उसकी अनुपस्थिति में श्रुत (आगम पुरुष का वचन-संकलन) प्रमाण होता है। आगमयुग में आगम पुरुष का और उसकी अनुपस्थिति में श्रुत का प्रामाण्य था। दर्शनयुग में आगम का प्रामाण्य गौण, हेतु या तर्क का प्रामाण्य मुख्य हो गया।

जैन आचार्यों द्वारा आगमयुग में भी हेतु अस्वीकृत नहीं था। 'तर्कोऽप्रतिष्ठ'—तर्क अ-प्रतिष्ठ है—यह विचार जैन न्याय में कभी प्रतिष्ठित नहीं हुआ। इसका कारण समझने के लिए पूर्व चर्चित पांच ज्ञानों के विषय-वस्तु को समझना होगा।

मति और श्रुतज्ञान के द्वारा सब द्रव्य जाने जा सकते हैं, किन्तु उनके सब पर्याय नहीं जाने जा सकते।[1] द्रव्य दो प्रकार के हैं मूर्त्त और अमूर्त्त। अमूर्त्त द्रव्य इन्द्रियों के द्वारा ज्ञेय नहीं हैं, मन के द्वारा वे जाने जा सकते हैं।[2] वे परोपदेश के द्वारा भी जाने जा सकते हैं। जैन आगमों में षट्द्रव्य की व्यवस्था है धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनमें पुद्गलास्तिकाय मूर्त्त है और शेष सब अमूर्त्त। अमूर्त्त द्रव्य इन्द्रियों के द्वारा

1 (क) भगवती, 8/184,185।

(ख) तत्त्वार्थ, 1/26

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।

2 तत्त्वार्थवार्तिक, 1/26

अतीन्द्रियेषु मतेरभावात् सर्वद्रव्यासम्प्रत्यय इति चेत्, न, नोइन्द्रिय-विषयत्वात्।

गम्य नहीं होते, इसका तात्पर्य है कि उसकी व्याप्ति नही हो सकती—अविनाभाव के नियम का निर्धारण नही हो सकता। जिसकी व्याप्ति नही हो सकती उसका अनुमान नही हो सकता। अत अमूर्त्त द्रव्य केवल परोपदेश (श्रुतज्ञान) के द्वारा ही जाने जा सकते हैं। अतीन्द्रिय–द्रष्टा पुरुषो ने अमूर्त्त द्रव्यो का साक्षात् किया और उनका प्रतिपादन किया। उस प्रतिपादन के आधार हम जान सकते हैं कि अमूर्त्त द्रव्य हैं। मूर्त्त द्रव्यो को इन्द्रियो के द्वारा जान सकते हैं। उन्हे कुछेक पर्यायो द्वारा नही जान सकते हैं, सब पर्यायों द्वारा नही जान सकते। चक्षु के द्वारा वस्तु के रूप को जान सकते हैं किन्तु अन्य पर्यायो को नही जान सकते। परोपदेश (श्रुतज्ञान) शब्द के माध्यम से होता है। शब्द सख्येय हैं। पर्याय सख्येय, असख्येय और अनन्त हैं, इसलिए परोपदेश के द्वारा भी सब पर्याय नही जाने जा सकते।[3]

अवधि और मन पर्यव के द्वारा मूर्त्त द्रव्य ही जाने जा सकते है।[4] केवलज्ञान से मूर्त और अमूर्त—दोनो साक्षात् होते है।[5]

केवलज्ञान के द्वारा ज्ञेय का साक्षात् होता है, इसलिए उसमे हेतु का कोई अवकाश नही होता। श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थ का साक्षात् ज्ञान नही होता इसलिए उसमे हेतु का अवकाश है। सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने श्रुतज्ञान के दो प्रकार बतलाए हैं शब्दज और लिंगज। शब्द के सहारे होने वाला श्रुतज्ञान शब्दज होता है और लिंग (हेतु) से होने वाला श्रुतज्ञान लिंगज कहलाता है। एक अर्थ के द्वारा दूसरे अर्थ का उपलम्भ होना श्रुतज्ञान है। जब हम धूम के द्वारा अग्नि का ज्ञान करते हैं तब धूम नामक अर्थ से अग्नि नामक अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान मे हेतु की अस्वीकृति नही है। इसका तात्पर्य है कि आगमयुग मे भी हेतु मान्य रहा है। किन्तु आगमपुरुष की उपस्थिति मे उसकी उपयोगिता कम हो जाती है। जब तक

3 तत्त्वार्थवार्त्तिक, 1/26

श्रुतमपि शब्दाश्च सव सख्येया एव, द्रव्यपर्याया पुन सख्येयाऽसख्येया-नन्तभेदा, न ते सर्वे विशेषकारेण तैर्विषयीक्रियन्ते।

4 (क) तत्त्वार्थ 1/27

रूपिष्ववधे।

(ख) वही, 1/28

तदनन्तभागो मन पर्ययस्य।

5 तत्त्वार्थ, 1/29

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।

केवलज्ञानी और विशिष्ट पूर्वधर आचार्य थे तब तक जैन परम्परा में अनुमान या प्रमाण-मीमांसा का विकास नहीं हुआ। ईसा की पहली शताब्दी में आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार सूत्र में प्रमाण की विशद चर्चा की है। इससे पूर्ववर्ती साहित्य में प्रमाण की इतनी विशद चर्चा प्राप्त नहीं होती। दर्शनयुग में जब हेतुवाद की प्रमुखता हुई और विशिष्ट श्रुतधर आचार्यों की उपस्थिति नहीं रही तब जैन आचार्य भी हेतुवाद की ओर आकृष्ट हुए। इसका संकेत निर्युक्ति साहित्य में मिलता है। निर्युक्तिकार का निर्देश है कि मन्दबुद्धि श्रोता के लिए उदाहरण और तीव्र बुद्धि श्रोता के लिए हेतु का प्रयोग करना चाहिए।"

यतिवृषभ ने हेतुवाद के समर्थन में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है। उनके अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में छद्मस्थ मनुष्य (जिसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं है) के विकल्प नियमत अविसंवादी नहीं होते। वे विसंवादी भी होते हैं। इसलिए पूर्वाचार्यों की व्याख्याओं के साथ-साथ हेतुवाद की दिशा भी स्वीकृत होनी चाहिए। उससे दो लाभ हो सकते है व्युत्पन्न शिष्यों की बुद्धि की सन्तुष्टि हो सकती है और अव्युत्पन्न शिष्यों को तत्त्व की ओर आकृष्ट किया जा सकता है।

हेतुवाद के प्रयोग की दो ओर से अपेक्षा हुई। दूसरे दार्शनिक जब हेतुवाद के द्वारा खडन-मडन करने लगे तब अपने सिद्धान्तों की सुरक्षा के लिए हेतुवाद का प्रयोग करना आवश्यक प्रतीत हुआ। प्रज्ञावान् जैन मुनि भी विषय के स्पष्ट बोध के लिए हेतुवाद की माग करने लगे। इस प्रकार भीतरी और बाहरी दोनों कारणों से हेतुवाद को विकसित करना अपेक्षित हो गया।

जैन आचार्यों के पीछे आगमपुरुषों के निरूपणों की एक पुष्ट परम्परा थी। उसमे अनेक अतीन्द्रियगम्य तत्त्व निरूपित थे। वे हेतुगम्य नही थे। इस स्थिति मे हेतु के प्रयोग की मर्यादा करना आवश्यक हुआ। इस आवश्यकता की पूर्ति आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन ने की। आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मति' मे आगम और हेतुवाद इन दो पक्षों की स्वतन्त्रता स्थापित की और यह बतलाया कि आगमवाद के पक्ष मे आगम का और हेतुवाद के पक्ष मे हेतु का प्रयोग करने वाला तत्त्व का सम्यक् व्याख्याता होता है तथा आगमवाद के पक्ष मे हेतु का और हेतुवाद के

---

6 दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 49।

7 तिलोयपण्णत्ती, 7/613

अदिदिएसु पदत्थेसु छदुमत्थवियप्पाणमविसवादणियमाभावादो। तम्हा पुव्वाइरियवक्खाणापरिच्चाएण एसा वि दिसा हेतुवादाणुसारि-वियुप्पण्णसिस्साणुग्गह-अनुप्पण्णजणउप्पायणट्ठ च दरिसेदव्वा।

पक्ष मे आगम का प्रयोग करने वाला तत्व का सम्यक् व्याख्याता नही होता।[8] आगमग्रन्थो मे केवलज्ञानी के वचन सकलित होते हैं। उनमे प्राय अतीन्द्रिय अर्थ निरूपित होते हैं। वे हेतु या तर्क से अतीत होते है।[9] इसलिए उनमे हेतु का प्रयोग नही किया जा सकता। इन्द्रियगम्य विषय हेतु के द्वारा समझे जा सकते है अत उनकी सिद्धि हेतु के द्वारा की जानी चाहिए। उनकी सिद्धि के लिए आगम का प्रयोग करना उपयुक्त नही होता।

अहेतुगम्य पदार्थ

शरीरमुक्त आत्मा अतीन्द्रिय है। उसकी सिद्धि के लिए कोई तर्क नही है। मति उसे ग्रहण नही कर पाती।[10] भृगुपुत्रो ने अपने पिता से कहा आत्मा अमूर्त है, अत वह इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता।[11] वनस्पति के जीव श्वास लेते हैं। उनमे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध मान, माया, लोभ ये सारी सज्ञाए होती हैं। हर्ष और शोक होता है। पृथ्वीकाय के जीवो मे उन्माद होता है। ये अतीन्द्रिय विषय हैं। हेतु के द्वारा इन्हे प्रमाणित नही किया जा सकता। अमूर्त तत्व, सूक्ष्म मूर्त तत्व और सूक्ष्म पर्याय ये सब आगम के प्रामाण्य से ही सिद्ध हो सकते है। अतीन्द्रिय पदार्थ आगम-साधित पदार्थ होते है।

हेतुगम्य पदार्थ

शरीरयुक्त जीव हेतु के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। जिसमे सजातीय से उत्पन्न होने और सजातीय को उत्पन्न करने की क्षमता होती है वह जीव होता

8 सन्मति प्रकरण, 3/43–45

दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा॥
भविओ सम्मद्दसण-णाण-चरित्तपडिवत्तिसपन्नो।
णियमा दुक्खतकडो त्ति लक्खण हेउवायस्स॥
जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धतविराहओ अन्नो॥

9 धवला, 6/1/9/6

आगमो हि णाम केवलणाणपुरस्सरो पायेण।
अणिदियत्थविसओ अचितियसहाओ जुत्तिगोयरादीदो॥

10 आयारो, 5/124,125

तक्का तत्थ ण विज्जइ।
मई तत्थ ण गाहिया।

11 उत्तरज्झयणाणि, 14/19

नो इदियगेज्झ अमुत्तभावा।

है। जिसमे ये क्षमताए नही होती वह जीव नही होता। जिसमे श्वास का स्पदन होता है वह जीव होता है। शरीरधारी आत्मा का जीवत्व हेतु के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। अत हेतु-साधित पदार्थों के लिए हेतु का प्रयोग अपेक्षित है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है अनाप्त वक्ता की उपस्थिति मे तत्त्व की सिद्धि हेतु से की जाती है। वह हेतु-साधित तत्त्व होता है। आप्त वक्ता की उपस्थिति मे तत्त्व की सिद्धि उसके वचन से की जाती है। वह आगम-साधित तत्त्व होता है।[12]

ज्ञान का प्रमाणीकरण

दूसरी उपलब्धि है ज्ञान का प्रमाण के रूप मे प्रस्तुतीकरण। आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगद्वार सूत्र मे किया हुआ प्रमाण-निरूपण न्यायदर्शनावलम्बी होने के कारण जैन न्याय मे प्रतिष्ठित नहीं हो सका। अन्य दार्शनिक प्रमाण की चर्चा प्रस्तुत करते थे, वहा जैन दर्शन मे ज्ञान की प्रतिष्ठा थी। प्रमाण-समर्थित दर्शनयुग मे जब सभी दार्शनिक प्रमाण का विकास कर रहे थे, उस समय समन्वय की दृष्टि से जैन आचार्यों के सामने भी प्रमाण के विकास का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रश्न का समाधान सर्व प्रथम वाचक उमास्वाति ने किया। उन्होंने ज्ञान और प्रमाण का समन्वय प्रस्तुत किया। यह आगमयुगीन ज्ञान-परम्परा और प्रमाण-व्यवस्था के बीच समन्वय-सेतु बना। सिद्धसेन और अकलक ने प्रमाण को स्वतन्त्र रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया। वाचक उमास्वाति का समन्वय इन सूत्रो मे प्रस्तुत है

मतिश्रुतावधिमन.पर्ययकेवलानि ज्ञानम्।
तत् प्रमाणे।
आद्ये परोक्षम्।
प्रत्यक्षमन्यत्।[13]
मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवल ये पाच ज्ञान हैं।
ये ज्ञान ही प्रमाण हैं।
मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।
अवधि, मन पर्यव और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

12 आप्तमीमासा, 78

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतो, साध्य तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम्।

13 तत्त्वार्थ, 1/9–12।

वाचक उमास्वाति द्वारा प्रस्तुत प्रमाण-व्यवस्था मे प्रथम दो ज्ञानो को परोक्ष तथा शेष तीन ज्ञानो को प्रत्यक्ष मानने की आगमिक परम्परा सुरक्षित है। इस व्यवस्था मे केवल इतना परिवर्तन है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के रूप मे प्रस्थापित किए गए।

प्राचीन परम्परा मे ज्ञान का वही अर्थ था जो दर्शनयुग मे प्रमाण का किया गया। वाचक उमास्वाति ने प्रमाण का लक्षण सम्यग्ज्ञान किया है। जो ज्ञान प्रशस्त, अव्यभिचारी या सगत होता है वह सम्यग् है।[14] उन्होने अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—विभिन्न तार्किको द्वारा सम्मत इन प्रमाणो का मति और श्रुतज्ञान मे समावेश किया है। इन प्रमाणो मे इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष निमित्त होता है, इसलिए ये मति और श्रुतज्ञान के अन्तर्गत ही है।[15]

सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार की रचना की। जैन परपरा मे न्यायशास्त्र का यह पहला ग्रन्थ है। इसकी कुल बत्तीस कारिकाए है। इसमे प्रमाण के लक्षण, प्रकार तथा अनुमान के अगो की व्यवस्था की है। इसमे प्रमाण-व्यवस्था का विकसित रूप उपलब्ध नही है, फिर भी न्याय-शास्त्र का आदि-ग्रन्थ होने का गौरव इसे प्राप्त है।

आचार्य समन्तभद्र ने न्यायशास्त्र का कोई स्वतत्र ग्रन्थ नही लिखा, किन्तु आप्तमीमासा तथा स्वयभूस्तोत्र मे उन्होने न्यायशास्त्रीय विषयो की चर्चा की। उन्होने प्रमाण का स्व-पर-प्रकाशी के रूप मे प्रयोग किया है।[16]

प्रत्यक्ष प्रमाण की सपर्कसूत्रीय परिभाषा

बौद्ध दार्शनिक इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते थे। इन्द्रियो से वस्तु का साक्षात्कार होता है इसलिए उससे होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। वह कल्पनात्मक नही होता और भ्रान्त नही होता ये उसकी दो विशेषताए हैं।

14 तत्त्वार्थभाष्य, 1/1।

15 तत्त्वार्थभाष्य, 1/12

अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावानपि च प्रमाणानीति केचिद् मन्यन्ते। तत् कथमेतदिति ? अत्रोच्यते। सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्।

16 स्वयभूस्तोत्र, 63

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गत, प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव।
समग्रतास्ति स्वपरावभासक, यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षणम्॥

नैयायिक इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं।[17] नव्य नैयायिकों ने प्रत्यक्ष के दो भेद माने हैं लौकिक और अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का अर्थ के साथ साधारण सन्निकर्ष होता है। अलौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का पदार्थ के साथ असाधारण या अलौकिक सन्निकर्ष होता है।

जैन परंपरा में इन्द्रियज्ञान परोक्ष माना जाता था। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्द्रियज्ञान के परोक्ष होने का तर्कपूर्ण पद्धति से समर्थन किया। उमास्वाति ने भी मति-श्रुत को परोक्ष प्रमाण मानकर इन्द्रियज्ञान के परोक्ष होने की पुष्टि की।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञान के विषय में प्रामाणिकों में दो परंपराएं चल रही थीं एक प्रत्यक्षवादी और दूसरी परोक्षवादी। इस स्थिति में कुछ जैन दार्शनिकों ने दोनों परंपराओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न प्रारंभ किया।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का पहला उल्लेख अनुयोगद्वार सूत्र में मिलता है। स्थानांग सूत्रगत ज्ञान-मीमांसा में प्रत्यक्ष के 'केवल' (केवलज्ञान) और 'नो-केवल' (अवधि मनःपर्यव) ये दो प्रकार मिलते हैं।[18] अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्यक्ष के दो प्रकार किए गए हैं इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के पांच प्रकार हैं

1 श्रोत्र-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।
2 चक्षु-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।
3 घ्राण-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।
4 रस-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।
5 स्पर्श-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।

नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं

1 अवधिज्ञान।
2 मनःपर्यवज्ञान।
3 केवल ज्ञान।[19]

17 न्यायसूत्र 1/1/4

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

18 ठाणं, 2/87

पच्चक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा केवलणाणे चेव, णोकेवलणाणे चेव।

19 अणुओगद्दाराइं, सूत्र 516, 517, 518।

नदी सूत्र मे भी अनुयोगद्वारगत प्रत्यक्ष विषयक परपरा का अनुसरण हुआ है। इन दो ही आगमो मे इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि मे रखा गया है। अनुयोगद्वार का रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी और नदी सूत्र का रचनाकाल ईसा की पाचवी शताब्दी है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का अस्तित्व काल ईसा की सातवी शताब्दी है। वे आगमिक परपरा के प्रतिनिधि आचार्य थे। उन्होने मति और श्रुतज्ञान के परोक्ष होने का समर्थन किया है किन्तु साथ-साथ उसमे एक नया उन्मेष भी जोडा है। उन्होने प्रतिपादित किया कि अनुमान एकान्तत प्रत्यक्ष हैं। इन्द्रिय ज्ञान और मानस-ज्ञान सव्यवहार प्रत्यक्ष है।[20]

साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान है। धूम-दर्शन से जो अग्नि का ज्ञान होता है, वह इन्द्रियो के भी साक्षात् नही होता। इसलिए अनुमान ज्ञान एकान्तत परोक्ष है। अवधि आदि से होने वाला अर्थ का ज्ञान साक्षात् होता है, उसमे किसी माध्यम की अपेक्षा नही होती, इसलिए वह एकान्तत प्रत्यक्ष है। इन्द्रियो से जो स्पर्श आदि विषयो का ज्ञान होता है वह इन्द्रिय साक्षात्कार है। अत वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष है और आत्मा के लिए वह परोक्ष है। इन्द्रिया स्वय अचेतन हैं। उन्हे विषयो का ज्ञान नही होता। वे ज्ञान के माध्यममात्र हैं। इस दृष्टि से यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन्द्रियज्ञान व्यावहारिक-दृष्टि से प्रत्यक्ष है और पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है।[21]

- ज्ञाता-ज्ञेय--पारमार्थिक प्रत्यक्ष।
- ज्ञाता-इन्द्रिय ज्ञेय-साव्यवहारिक प्रत्यक्ष। (इस आकार मे ज्ञेय ज्ञाता के लिए परोक्ष और इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष होता है।)
- ज्ञाता-मन-धूम-अग्नि=केवल परोक्ष।

इन्द्रियज्ञान को साव्यवहारिक कोटि के प्रत्यक्ष की स्वीकृति ने सपर्क-सूत्र का काम किया। जैन प्रामाणिको तथा अन्य प्रामाणिको के बीच प्रत्यक्ष विषयक जो समस्या थी उसका समाधान हो गया। प्रमाण-व्यवस्था के युग मे भी साव्यवहारिक

20 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 95

एगतेण परोक्ख लिंगियमोहाइय च पच्चक्ख।
इ दियमणोभव ज त सववहारपच्चक्ख ॥

21 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 95, स्वोपज्ञवृत्ति

यत् पुन साक्षादिन्द्रियमनोनिमित्त तत् तेषामेव प्रत्यक्षम्, अलिङ्गत्वात्, आत्मनोऽवध्यादिवत्, न त्वात्मन, आत्मनस्तु तत् परोक्षमेव परनिमित्तत्वात् अनुमानवत् इत्युक्तम्। तेषामपि च तत् सव्यवहारत एव तत्प्रत्यक्षम्, न परमार्थत। कस्मात्? अचेतनत्वात्, घटवत्, इत्युक्तम्।

और पारमार्थिक प्रत्यक्ष की परम्परा मान्य नहीं । प्रमाण-व्यवस्था के मुख्य सूत्रधार आचार्य अकलक ने इस परम्परा को मान्यता देकर इसे स्थायित्व दे दिया ।[22]

अनेकांत-व्यवस्था और दर्शन-समन्वय

चौथी उपलब्धि है—दर्शन-समन्वय और उसके लिए अनेकान्त की व्यवस्था का विकास और उसका व्यापक प्रयोग ।

उपनिषद् काल से दो प्रश्न चर्चित होते रहे हैं ?

1 क्या पूर्ण सत्य जाना जा सकता है ?

2 क्या पूर्ण सत्य की व्याख्या की जा सकती है ?

इन पर विभिन्न दर्शनो ने विभिन्न समाधान प्रस्तुत किए हैं। जैन दर्शन ने भी इनका समाधान किया है । प्रथम प्रश्न का समाधान ज्ञान-मीमांसा के आधार पर दिया और दूसरे का समाधान अनेकान्त के आधार पर दिया ।

1 केवलज्ञानी पूर्ण सत्य को जान सकता है। उसका ज्ञान सर्वथा अनावृत होता है । इसलिए उनके ज्ञान मे कोई अवरोध नही होता, अन्तराय नही होता । जो केवलज्ञानी नही है वह पूर्ण सत्य को नही जान सकता । क्योकि वह ज्ञानी ही नही होता, अज्ञानी भी होता हैं । हम अकेवली के ज्ञान को स्वीकार करते हैं तो साथ-साथ उनके अज्ञान को भी स्वीकार करते हैं। चेतना की आवृत अवस्था मे ज्ञान और अज्ञान दोनो जुडे हुए रहते हैं । केवलज्ञानी को ही हम पूर्णज्ञानी कह सकते हैं। केवलज्ञानी का एक अर्थ यह भी किया जा सकता है 'कोरा ज्ञानी' । वह केवलज्ञानी है, अज्ञानी नही है । ज्ञान के स्तर पर केवलज्ञानी से नीचे जितने भी लोग हैं वे सब ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं । ज्ञान और अज्ञान की सह-स्वीकृति का फलित है कि पूर्ण सत्य को केवलज्ञानी ही जान सकता है, दूसरा नही जान सकता ।

सत्य के मुख्य पहलु दो हैं द्रव्य और पर्याय । श्रुतज्ञानी मूर्त्त और अमूर्त्त—सभी द्रव्यो को जान लेता है, पर सब पर्यायो को नही जानता । केवली सब द्रव्यो और सब पर्यायो को जानता है, इसलिए वह पूर्ण सत्य को जानता है । श्रुतज्ञानी श्रुत के आधार पर सब द्रव्यो को जानता है। केवलज्ञानी उन्हे साक्षात् जानता है, इसलिए वह पूर्ण सत्य को जानता है । आचार्य समन्तभद्र के शब्दो मे स्याद्वाद और

22 (क) लघीयस्त्रय, 3 -

प्रत्यक्ष विशद ज्ञान, मुख्यसव्यवहारत ।
परोक्ष शेषविज्ञान, प्रमाण इति सग्रह ॥

(ख) लघीयस्त्रय विवृत्तिकारिका 4

तत्र साव्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ॥

केवलज्ञान दोनो सब तत्वो को प्रकाशित करने वाले हैं। दोनो मे इतना अन्तर है कि केवलज्ञान के द्वारा वे साक्षात् प्रकाशित होते है और स्याद्वाद के द्वारा वे परोक्षत प्रकाशित होते है।[23]

2 जैन तत्व-मीमासा के अनुसार मूल द्रव्य दो है—चेतन और अचेतन। प्रत्येक द्रव्य अनन्त-अनन्त स्वतत्र इकाइयो मे विभक्त है। प्रत्येक इकाई मे अनन्त-अनन्त पर्याय हैं। इन सब द्रव्यो, उनकी स्वतत्र इकाइयो और उनके पर्यायो की समष्टि का नाम पूर्ण सत्य है। अद्वैतवादी निरपेक्ष सत्य को मान्यता दे सकते है किन्तु द्वैतवादी उसे स्वीकृति नही दे सकते। इसीलिए जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद के आधार पर सत्य की व्याख्या की। सत्य अनन्त पर्यायात्मक है और भाषा की शक्ति सीमित है। एक क्षण मे एक शब्द के द्वारा एक ही पर्याय का प्रतिपादन किया जा सकता है। पूरे जीवन मे भी सीमित पर्यायो का ही प्रतिपादन किया जा सकता है, अत पूर्ण सत्य की व्याख्या नही की जा सकती, सत्याश की व्याख्या की जा सकती है।

स्पिनोजा ने द्रव्य को अनिर्वचनीय बतलाकर समस्या से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया है।[24]

अद्वैतवादी भारतीय दर्शनो ने भी सत्य को अनिर्वचनीय माना है। जैन तार्किको ने द्रव्य की अनिर्वचनीयता को मान्यता नही दी। उनका तर्क है कि द्रव्य यदि अनिर्वचनीय है तो उसका निर्वचन नही किया जा सकता और उसका निर्वचन किए बिना अनिर्वचनीयता भी सिद्ध नही होती। अत द्रव्य सर्वथा अनिर्वचनीय नही है और सर्वथा निर्वचनीय भी नही है। द्रव्य के अनन्त पर्याय युगपत् नही कहे जा

23 आप्तमीमासा, 105

स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतम भवेत्॥

24 द्रव्य निर्गुण और अनिर्वचनीय है। हमारी वाणी और बुद्धि की पहुच द्रव्य तक नही है। बुद्धि द्रव्य की ओर सकेत करती है, किन्तु उसे पूर्णरूप मे नही जान सकती। यह निर्विकल्प अनुभूति का विषय है। गुण बुद्धि के विकल्प हैं। किसी वस्तु का गुण बताना उस वस्तु को उस गुण द्वारा परिच्छिन्न करना है। किसी वस्तु का निर्वचन करना उसे उस अश मे सीमित करना है। सीमा या परिच्छेद का अर्थ है—अन्य गुणो का निषेध। जैसे किसी वस्तु को श्वेत कहना उसमे काले, पीले, लाल आदि गुणो का निषेध करना है। द्रव्य अपरिच्छिन्न है, अत निर्गुण और अनिर्वचनीय है।

[पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ 109]

सकते । इस दृष्टि से वह अनिर्वचीय है, किन्तु जिन धर्मों का निर्वचन किया जाता है, उनकी दृष्टि से वह निर्वचनीय भी है । यह व्याख्या उन्होंने स्याद्वाद के आधार पर की । 'अस्ति रक्तो घट' घड़ा लाल है इस वाक्य में वर्ण के द्वारा घट की व्याख्या की गई है । घट केवल वर्णात्मक नही है । उसमे रस, गन्ध, स्पर्श आदि अन्य अनेक धर्म विद्यमान है । हम एक धर्म के द्वारा उसकी व्याख्या करते है तब शेष धर्मों को उससे पृथक् नही कर सकते और युगपत् सब धर्मों को कह सकें, ऐसा कोई उपाय नही है । इस निरुपायता की समस्या को सुलझाने के लिए 'स्यात्' शब्द का आविष्कार किया गया । स्याद्वाद के अनुसार यह नहीं कहा जा सकता 'अस्ति रक्तो घट', किन्तु यह कहना वास्तविक होगा कि 'स्याद् अस्ति रक्तो घट' सापेक्षता की दृष्टि से घड़ा लाल है । 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस वास्तविकता का सूचक है कि आप घट रक्तवर्ण को मुख्य मानकर घट का निर्वचन कर रहे है और शेष धर्मों को गौण बनाकर उपेक्षित कर रहे हैं, किन्तु उन्हे अस्वीकार नही कर रहे हैं । रक्त-वर्ण को घट के शेष धर्मों से विभक्त नही कर रहे, किन्तु उसका निर्वचन करते हुए भी घट की समग्रता का बोध कर रहे हैं । 'स्याद् अस्ति घट' इसमे 'अस्ति' धर्म घट के शेष धर्मों से विच्छिन्न नही हैं उसके विच्छिन्न होने पर घट का घटत्व भी समाप्त हो जाता है । एक धर्म की मुख्यता से वस्तु का प्रतिपादन और उसके शेष धर्मों की मौन स्वीकृति यही हमारे पास अखड वस्तु की व्याख्या का एक उपाय है जिसके आधार पर हम वस्तु को अनिर्वचनीय और निर्वचनीय दोनो मान सकते है । हम बहुत बार सापेक्षता के आधार पर केवल एक धर्म का ही प्रतिपादन करते है, एक धर्म के माध्यम मे शेष धर्मों के प्रतिपादन का प्रयत्न नही करते । इस व्याख्या-पद्धति मे अनिर्वचनीय जैसा कुछ नही होता । एक धर्म की व्याख्या-पद्धति को 'नय' तथा एक धर्म के माध्यम से अखड वस्तु की व्याख्या-पद्धति को 'स्वाद्वाद' कहा जाता है ।[25] अखड और खड की व्याख्या की इन दोनो पद्धतियो का विकास अनेकान्त-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण प्रतिफलन है ।

समन्वय के आयाम

बौद्ध, नैयायिक और मीमासक ये सब अपने-अपने सिद्धान्त का समर्थन और दूसरो के सिद्धान्तो का निरसन कर रहे थे । इस पद्धति मे तीव्र व्यग्य और कटूक्तिपूर्ण आक्षेप प्रयुक्त हो रहे थे । अहिंसाप्रिय जैनो को यह पद्धति रुचिकर नही लग रही थी । वे इस आगम-वाणी से प्रभावित थे जो अपने सिद्धान्त की प्रशसा और दूसरो के सिद्धान्तो की निन्दा करते हैं वे समस्या का समाधान नही

25 न्यायावतार, श्लोक 30

नयानामेकनिष्ठाना, प्रवृत्ते. श्रुतवर्त्मनि ।
सपूर्णार्थविनिश्चायि, स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥

कर सकते ।'[26] लम्बी अवधि तक जैन विद्वान् इस तर्क मीमासा की सीमा मे प्रविष्ट ही नही हुए । वे अपनी सीमा मे रहे और विभिन्न वादी–प्रतिवादियो के बीच जो कुछ चल रहा था उसे मौन भाव से देखते रहे । साम्प्रदायिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो ने ऐसी विवशता उत्पन्न कर दी कि तार्किको की परिषद् मे उपस्थित होकर अपने सिद्धान्तो को तर्क–समर्थित किए बिना अस्तित्व की सुरक्षा सभव नही रही । उस स्थिति मे जैन विद्वानो ने अपने सिद्धान्तो का समर्थन और दूसरो के सिद्धान्तो का निरसन शुरू किया । किन्तु उनकी निरसन-पद्धति आक्षेपप्रधान नही थी । उन्होने अहिंसा की सुरक्षा और सत्य की सपुष्टि के लिए निरसन को समन्वय से जोड दिया । उनकी चिन्तनधारा का प्रतिबिम्ब हरिभद्रसूरी की इस उक्ति मे मिलता है ।[27]

"शास्त्रकारा महात्मान , प्रायो वीतस्पृहा भवे ।
सत्त्वार्थसम्प्रवृत्ताश्च, कथ तेऽयुक्तभाषिण ?"

'जितने शास्त्रकार है वे सब महात्मा हैं, परमार्थदृष्टि वाले है । वे मिथ्या बात कैसे कहेगे ?' प्रश्न उठा, फिर उनके दर्शनो मे इतना अन्तर क्यो ? तो हरिभद्र ने कहा 'उनके अभिप्राय की खोज करनी चाहिए कि उन्होने यह किस आशय से कहा है । हम तात्पर्य को समझे बिना विरोध-प्रदर्शित करते हैं, वह सत्योन्मुखी प्रयत्न नही है ।'

निरसन की पद्धति को समन्वय की दिशा देने का महान् श्रेय आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन को है । वे अनेकान्त-व्यवस्था के साथ-साथ समन्वय के भी सूत्रधार हैं । आचार्य सिद्धसेन ने साख्य, बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शनो की समीक्षात्मक समन्वय-पद्धति मे अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है । उन्होने लिखा है साख्य दर्शन द्रव्यार्थिक नय की वक्तव्यता है । वह कूटस्थनित्य की स्वीकृति है । बौद्ध दर्शन पर्यायार्थिक नय की वक्तव्यता है । वह क्षणिकत्व की स्वीकृति है । एक कूटस्थनित्यवाद और दूसरा क्षणिकवाद । दोनो मे से एक मिथ्या होगा । या तो बौद्धो के क्षणिकवाद को मिथ्या मानना होगा या साख्यो के कूटस्थनित्यवाद को । दोनो सही नही हो सकते । वैशेषिक दर्शन सामान्य और विशेष—दोनो को मान्य करता है । अत वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो नयो को स्वीकृति देता है । किन्तु वह सामान्य और विशेष दोनो को परस्पर निरपेक्ष और स्वतत्र मानता है । इसलिए ये सब वक्तव्यताए एकागी होने के कारण मिथ्या हैं । बौद्ध और

26 सूयगडो, 1/1/50

सय सय पससता, गरहता पर वय ।
जे उ तत्थ विउस्सति, ससारे ते विउस्सिया ।।

27 शास्त्रवार्तासमुच्चय, 3/15 ।

वैशेषिक सांख्यों के सत्कार्यवाद को मिथ्या मानते है और सांख्य उनके असत्कार्यवाद को मिथ्या मानते हैं। उक्त सब वक्तव्यताए सत्य हैं। उनमे कोई भी वक्तव्यता मिथ्या नही है। वे निरपेक्ष होने के कारण मिथ्या हैं। वे यदि सापेक्ष हो तो कोई भी वक्तव्यता मिथ्या नही है। घट मिट्टी से पृथक् नहीं है, इसलिए वह उसमे अभिन्न है। घटावस्था से पहले मिट्टी मे घट नही था। घटाकार परिणति होने पर घट बना है, इसलिए वह मिट्टी से भिन्न है। इस प्रकार अभेद और भेद या सामान्य और विशेष को सापेक्ष दृष्टि से देखने पर कोई भी वक्तव्यता मिथ्या नही होती।[28]

जितने वचन-पथ हैं उतने ही नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं उतने ही पर-समय हैं अन्य दर्शन हैं।[29] प्रत्येक विचार एक नय है। वह किसी दृष्टिकोण से निरूपित है, कोई भी एक विचार पूर्ण नही है। वह शेष सब विचारो से सबद्ध होकर पूर्ण होता है इसलिए कोई भी निरपेक्ष विचार सत्य नही होता और कोई भी सापेक्ष विचार मिथ्या नही होता। प्रश्न हो सकता है कि यदि निरपेक्ष विचार मिथ्या है तो वे समुदित होकर सत्य कैसे होगे? मिथ्या का समूह मिथ्या ही होगा। वह सम्यक् कैसे होगा? इस प्रश्न का आचार्य समन्तभद्र ने समाधान दिया कि विचार मिथ्या नही हैं। वे निरपेक्ष है इसलिए मिथ्या हैं। वे सापेक्ष या समुदित होते ही वास्तविक हो जाते हैं।[30]

---

28 सन्मति प्रकरण 3/48–52

ज काविल दरिसण एय दव्वट्ठियस्स वत्तव्व।
सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥48॥
दोहि वि णएहि णीअ सत्यमुलूएण तह वि मिच्छत्त।
ज सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥49॥
ज मतवायदोसे सक्कोलूया भणति सखाण।
सखा य असव्वाए तेसि सव्वे वि ते सच्चा ॥50॥
ते उ भयणोवणीआ सम्मद्दसणमणुत्तर होति।
ज भवदुक्खविमोक्ख दो वि न पूरेन्ति पाडिक्क ॥51॥
नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडो त्ति ज तेण जुज्जइ अणण्णो।
ज पुण घडो त्ति पुव्व ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥52॥

29 सन्मति प्रकरण, 3/47

जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥

30 आप्तमीमासा, श्लोक 108

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न।
निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने समन्वय की धारा को इतना विशाल बना दिया कि उसमे स्व-दर्शन और पर-दर्शन का भेद परिलक्षित नही होता। उनका तर्क है कि मिथ्यात्वो (असत्यो) का समूह सम्यक्त्व (सत्य) है। पर-दर्शन सम्यग् दृष्टि के लिए उपकारक होने के कारण वस्तुत वह स्व-दर्शन ही है।[31] सामान्यवाद, विशेषवाद, नित्यवाद, क्षणिकवाद ये सब सम्यक्त्व की महाधारा के कण हैं। इन सबका समुदित होना ही सम्यक्त्व है और वही जैन दर्शन है।[32] वह किसी एक नय के खडन या मडन मे विश्वास नही करता, किन्तु सब नयो को समुदित कर सत्य की अखडता प्रदर्शित करता है।

1 क्या आगमयुग मे समन्वय का सिद्धान्त मान्य नही था? क्या उस उस समय धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति प्रचलित नही थी?

समग्र आगम-साहित्य वर्तमान मे उपलब्ध नही है। उसके उपलब्ध अशो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सापेक्षता और समन्वय के सिद्धान्त उस युग मे मान्य रहे हैं। दर्शनयुग के आचार्यों ने बीजरूप मे प्राप्त उन सिद्धान्तो को ही विकसित किया।

आगम-साहित्य मे स्वसमय वक्तव्यता, परसमय वक्तव्यता और उन दोनो की वक्तव्यता इस प्रकार तीन वक्तव्यताए उपलब्ध हैं। इसका तात्पर्य है कि उस समय के मुनि अपने सिद्धान्तो के साथ-साथ दूसरो के सिद्धान्तो का भी अध्ययन करते थे। समन्वय मे विश्वास करने वालो के लिए विभिन्न विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करना स्वाभाविक है।

2 क्या सामान्य और विशेष का समन्वय किया जा सकता है?

अद्वैत का विचार सामान्यग्राही है। अद्वैत दर्शन सब पदार्थों का सश्लेषण कर अन्तिम सीमा तक पहुच गया। उस शिखर से उसने घोषणा की कि दूसरा कोई नही है। भेद की कल्पना व्यर्थ है। बौद्धो का ज्ञान पूरा विश्लेषणात्मक था। उन्होने विभाजन के चरम-बिन्दु पर पहुच कर उद्घोष किया कि विशेष ही सत्य है। सामान्य की कल्पना व्यर्थ है। एक सामान्य का चरम स्वीकार और एक विशेष का चरम स्वीकार। जैन दार्शनिको ने किसी चरम को स्वीकृति नही दी। उन्होने

31 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 949

मिच्छत्तसमूहमय सम्मत्त ज च तदुवगारम्मि।
वट्टति परसिद्धतो तस्स तयो ससिद्धतो ॥

32 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1528

इय सव्वणयमताइ परित्तविसयाइ समुदिताइ तु।
जइणा वञ्झब्भन्तरणिद्देसणिमित्तसगाहि ॥

सामान्य और विशेष में समन्वय प्रदर्शित किया और इस सूत्र का प्रतिपादन किया 'सामान्यशून्य विशेष और विशेषशून्य सामान्य मिथ्या है। द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है। द्रव्यशून्य पर्याय और पर्यायशून्य द्रव्य कही भी उपलब्ध नही होता।'

3 विभिन्न दर्शनो ने भिन्न-भिन्न सख्याओ मे तत्वो का प्रतिपादन किया है। क्या उनका समन्वय भी सम्भव है ?

मूल तत्त्व दो हैं चेतन और अचेतन। शेष सब तत्त्व उनके पर्याय है। तत्वो की सख्या का विकास किसी अपेक्षा या उपयोगिता के आधार पर किया गया है। यदि उपयोगिता की विवक्षा न की जाए तो उन सबका समावेश दो मूल तत्वो मे हो जाता है।

4 क्या प्रमाण भी सापेक्ष हैं ? यदि वह सापेक्ष हैं तो क्या प्रमाण की व्यवस्था अव्यवस्था मे नही बदल जायेगी।

प्रमेय है तब प्रमाण है। यदि प्रमेय न हो तो प्रमाण की कोई अपेक्षा ही नही होती। प्रमाण प्रमेय-सापेक्ष है। प्रमाता प्रमेय को जानने का यत्न करता है तब प्रमाण अपेक्षित होता है। इसलिए प्रमाण प्रमाता-सापेक्ष भी है। सापेक्षवाद अनिश्चय की स्थिति उत्पन्न नही करता, किन्तु निश्चय की पृष्ठभूमि मे रहे हुए सभी तत्वो के सम्बन्धो की व्याख्या करता है। यदि हम प्रमाण को निरपेक्ष मानें तो वह प्रमाता और प्रमेय से निरपेक्ष होकर अपने अस्तित्व को भी नही बचा पायेगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा से प्रमाण है, अतीन्द्रियज्ञान की अपेक्षा से वह प्रमाण नही है। इसे उलट कर भी कहा जा सकता है कि अतीन्द्रियज्ञान अव्यवहित विषय-ग्रहण की अपेक्षा मे प्रमाण है, किन्तु व्यवहित विषयग्राही मति और श्रुत की अपेक्षा से वह प्रमाण नही है। प्रमाण की व्यवस्था सापेक्षवाद के आधार पर ही स्थिर हो सकती है। शब्दनय की अपेक्षा से ज्ञान और अज्ञान का विभाग नही होता। जितने सविकल्प उपयोग हैं वे उस उसकी दृष्टि मे ज्ञान ही हैं। वह श्रुत और केवल— इन दो ज्ञानो को ही स्वीकृति देता है। अत उसे प्रमाण और अप्रमाण का विभाग मान्य नही है। नैगम, सग्रह और व्यवहार ये तीनो नये ज्ञान और अज्ञान के विभाग को स्वीकृति देते हैं, अत उनकी सम्मति में प्रमाण और अप्रमाण का विभाग समुचित है।[33]

प्रमाण और अप्रमाण की समूची व्यवस्था विभिन्न दृष्टिकोणो और अपेक्षाओ पर निर्भर है। इसका निर्णय चेतना-विकास और चिंतन की विभिन्न भूमिकाओ के आधार पर किया जा सकता है।

33 तत्त्वार्थभाष्य 1/35।

5 क्या आगमयुग के पूर्व भी किसी दर्शनयुग की स्थिति को स्वीकृति दी जा सकती है। अथवा नही ? क्या कोई दर्शन-विहीन युग भी था ?

आगमयुग और दर्शनयुग यह विभाजन भी एक नय की अपेक्षा से है। आगमयुग को या उससे पहले के युग को दर्शनयुग कह सकते है। वस्तुत आगमयुग और दर्शनयुग मे कोई भेद नही है। आप्त-पुरुष, अतीन्द्रिय-ज्ञान और निरीक्षण की प्रधानता होती वही वास्तव मे दर्शनयुग है और वही आगमयुग है। ईसा पूर्व तीसरी चौथी शताब्दी मे दर्शन के क्षेत्र मे तर्क का प्राधान्य हो गया, उस नय की अपेक्षा से दर्शनयुग और आगमयुग का विभाजन किया गया है। निर्विकल्पनानुभूति या अपरोक्षानुभूति ही वस्तुत दर्शन है। वर्तमान मे उसकी परिभाषा बदल गई। आज हम निर्विकल्पनानुभूति या अपरोक्षानुभूति को दर्शन नही मानते। किन्तु सविकल्प-ज्ञान, तर्क या हेतु के प्रयोग को दर्शन मानने लग गए हैं। इसी आधार पर प्रस्तुत विभाजन का औचित्य सिद्ध होता है। ऐतिहासिक काल मे दर्शनयुग का प्रारम्भ भगवान् पार्श्व के अस्तित्व-काल या उपनिषद्-काल (ईसा पूर्व 8 वी शती) से प्रारभ होता है।

6 सापेक्षवाद का प्रयोग सर्वत्र होता है या कही-कही ? यदि सर्वत्र होता है तो क्या आप हिंसा को भी सापेक्ष मानते है ? हिंसा है भी और नही भी यह मानते हैं ?

हिंसा भी निरपेक्ष नही है। उसकी व्याख्या अनेक नयो से की जाती है। आचार्य हरिभद्र ने इस प्रश्न की अनेक नयो से समीक्षा की है।[34] हिंसा प्रमाद-सापेक्ष है। प्रमाद है तो हिंसा हैं। यदि प्रमाद नही है तो हिंसा भी नही है।[35]

7 क्या सत्य भी दृष्टि-सापेक्ष होता है ? यदि हा तो वह सार्वभौम नही हो सकता।

द्रव्य मे विरोधी प्रतीत होने वाले स्वाभाविक पर्यायो मे वस्तुत कोई विरोध नही है। इसकी स्थापना के लिए सापेक्षवाद का सहारा लिया जाता है। द्रव्य के सापेक्षिक पर्यायो तथा विभिन्न सबधो की व्याख्या के लिए भी उसका उपयोग किया जाता है। द्रव्य सत्य है और पर्याय भी सत्य है। द्रव्य का मौलिक स्वरूप निरपेक्ष है, किन्तु उसके पर्याय और सबध निरपेक्ष नही है। निरपेक्ष-सत्य की व्याख्या निरपेक्षदृष्टि से और सापेक्ष-सत्य की व्याख्या सापेक्षदृष्टि मे की जाती है। अस्तित्व की दृष्टि से सत्य सार्वभौम हो सकता है। शेष पर्यायो की दृष्टि से वह नियतभूमि वाला ही होगा।

34 हिंसाफलाष्टकप्रकरणम्, 1–8।
35 भगवई, 1/33, 34।

8 यदि अतीन्द्रियज्ञानावस्था मे मन, भाषा, वाणी आदि का लोप हो जाता है तो उस अवस्था मे लौटने पर अर्थात् साधारण लौकिक-ज्ञान के स्तर पर आने के बाद उस व्यक्ति की अतीन्द्रिय अवस्था की स्मृति कैसे रह सकती है ? क्योकि स्मृति तो तब ही रह सकती है जब अतीन्द्रिय अवस्था मे आप मन की भी किसी प्रकार मे सत्ता स्वीकार करें।

अतीन्द्रिय-ज्ञानावस्था ज्ञानपक्ष है। यह जीवन का क्रियापक्ष नही है। वाणी जीवन का क्रियापक्ष है। मन ज्ञानपक्ष और क्रियापक्ष--दोनो के दायित्व का वहन करता है। क्रियापक्ष को वहन करने वाला द्रव्यमन और ज्ञानपक्ष को वहन करने वाला भावमन होता है। अतीन्द्रियज्ञानी यदि केवली है तो उनके क्रियापक्ष का वहन करने वाला मन और वाणी ये दोनो होते हैं। उनके ज्ञानपक्ष का मन नही होता। आगम साहित्य मे उन्हे नो समनस्क और नो-अमनस्क कहा गया है। सामान्य अतीन्द्रियज्ञानी के ज्ञानपक्ष का मन भी होता है। किन्तु अतीन्द्रियज्ञान के उपयोग मे वे मन का सहयोग नही लेते।

अतीन्द्रिय-ज्ञानावस्था मे मन वाणी आदि का लोप हो जाता है इस भाषा की अपेक्षा यह भाषा अधिक उपयुक्त होगी कि उस अवस्था मे मन, वाणी आदि सहयुक्त नही होते।

केवली लौकिकज्ञान के स्तर पर कभी नही लौटते। सामान्य अतीन्द्रियज्ञानी अतीन्द्रियज्ञान के लिए मानसज्ञान का प्रयोग नही करते, किन्तु उनके मन का लोप नही होता अत उनकी अतीन्द्रिय चेतना अपने अनुभवो को मानसिक चेतना मे सक्रान्त कर देती है। फलत अतीन्द्रिय-ज्ञानावस्था के अनुभव मन की धरोहर बन जाते हैं।

9 आपने कहा-केवली ही आगम है और स्वत प्रमाण है। प्रश्न है कि क्या केवली वाचिक क्रिया करता है अथवा नही ? यदि नही तब तो उसका ज्ञान वैयक्तिक अनुभूति-मात्र है, इसलिए दूसरे उसे ज्ञान कहकर सबोधित नही कर सकेंगे। और यदि केवली वाचिक क्रिया के द्वारा अपना ज्ञान अभिव्यक्त करता है तो दूसरो के लिए जो वस्तु प्रमाण होगी वह उसकी वाचिक क्रिया होगी, जो कि श्रुतज्ञान के समान ही है। फिर, मात्र वचन ही प्रमाण नही हो सकता। वचन के साथ कुछ अन्य कारक मिलकर ही श्रुतज्ञान को प्रमाणरूप मे स्थापित कर सकेंगे।

जैसे परार्थानुमान काल मे अनुमाता का वचन दूसरे के लिए प्रमाण होता है वैसे ही केवली का वचन भी दूसरे के लिए प्रमाण होता है। कोरा वचन प्रमाण नही होता, किन्तु वह ज्ञान को अभिव्यक्त करता है इसलिए प्रमाण होता है। कोई लौकिक आप्तपुरुष, जिसने अपनी आखो से वन मे सिंह को देखा है और वह आकर

कहता है- मैंने इस वन मे सिंह को देखा है तो हमे प्रत्यक्ष दर्शन और अनुमान के बिना भी वन मे सिंह के होने का बोध हो जाता है। केवल लोकोत्तर आप्त है। उसके वचन से भी हमे अदृष्ट और अननुमित विषय का बोध होता है।

केवली जो कहता है वह उसका वाक्-प्रयोग है। हम उसके वचन के आधार पर अर्थबोध करते हैं, वह हमारा भावश्रुत है। केवली का वचन हमारे भावश्रुत का निमित्त बनता है इसलिए वह द्रव्यश्रुत है।

□ □ □

3

अनेकान्त-व्यवस्था के सूत्र

1 सामान्य और विशेष का अविनाभाव

हम सत्य को जानते हैं और उसे अभिव्यक्त करते हैं। अर्थ, शब्द और ज्ञान यह उसकी त्रिपुटी है। विभिन्न दार्शनिकों ने उसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। वेदान्त ने उसके तीन रूपों की व्याख्या की है पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है। इन्द्रिय-जगत् व्यावहारिक सत्य है। मृग-मरीचिका-ज्ञान, स्वप्नज्ञान प्रातिभासिक सत्य है। बौद्धों ने सत्य को द्विरूप माना है परमार्थ सत्य और सवृतिसत्य (व्यावहारिक या काल्पनिक सत्य)। वस्तु का स्व-लक्षण (क्षणिकता) परमार्थ सत्य है। वस्तु का सामान्य लक्षण अपोहजनित होने के कारण सवृतिसत्य है।[1]

1 (क) प्रमाणवार्तिक, 2/4

अर्थक्रियासमर्थं यत्, तदत्र परमार्थसत् ।
अन्यत् सवृतिसत् प्रोक्त, ते स्वसामान्यलक्षणे ॥

(ख) सौत्रान्तिको के अनुसार सभी द्रव्य-सत् पदार्थ अथवा वस्तुए भावात्मक क्रियाशील एव क्षणिक हैं। फलत घट-पट आदि का हमारा परिचित विश्व वास्तविक नही कहा जा सकता। किन्तु अवास्तविक होते हुए भी उसकी व्यावहारिक सार्थकता स्वीकार करनी होगी। हमे यह मानना पडेगा कि घट-पट आदि का ज्ञान हमारी कल्पना होते हुए भी हमे वाछित वस्तु तक पहुचाने और अवाछित से बचाने मे सहायक सिद्ध होता है। यदि वस्तुए क्षणिक और स्व-लक्षण (अद्वितीय स्वभाव) से युक्त हैं, हमारी सामान्य-लक्षणात्मक कल्पनाए उन पर व्यवहार मे कैसे लागू होती हैं?

न आकाश-कुसुम की सी कोरी कल्पना व्यवहारोपयोगी होती है और न त्रिलोकी से न्यारी, उत्पन्न होते-ही विनिष्ट वस्तु, जो न पहले कभी थी, न भविष्य मे कभी होगी। व्यवहार के लिए स्थिरास्थिर, सदृशासदृश वस्तुओ का जगत् चाहिए जिसमे साध्य और साधन को जोडने के लिए स्मृति, विचार और सप्रेषण का सार्थक अवकाश

विभिन्न चिन्तकों ने सत्य के विभिन्न रूप उपस्थित किए हैं। उसकी दो आधारशिलाएं हैं निर्विकल्प अनुभूति और सविकल्पज्ञान। निर्विकल्प अनुभूति में ज्ञेय का साक्षात्कार होता है, इसलिए तद्विषयक बोध भिन्न नहीं होता। ऐन्द्रियिक स्तर पर होने वाले सविकल्पज्ञान में ज्ञेय का साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए उसका बोध नाना प्रकार का होता है। वेदान्त ने द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक मान लिया। बौद्धों ने पर्याय को परमार्थ सत्य मानकर द्रव्य को काल्पनिक मान लिया। जैन न्याय के अनुसार द्रव्य और पर्याय दोनों पारमार्थिक सत्य हैं। पर्याय की तरंगों के नीचे छिपा हुआ द्रव्य का समुद्र हमें दृष्ट नहीं होता तब पर्याय प्रधान और द्रव्य गौण हो जाता है। द्रव्य के शान्त समुद्र में जब पर्याय की ऊर्मियां अदृष्ट होती हैं तब द्रव्य प्रधान और पर्याय गौण हो जाता है। वेदान्त का विकल्प समुद्र की अतरंगित अवस्था है और बौद्धों का विकल्प उसकी तरंगित अवस्था है। अनेकान्त की दृष्टि में ये दोनों समन्वित हैं

'अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥'[2]

हमारा विकल्प जब संश्लेषणात्मक होता है तब द्रव्य उपस्थित रहता है, पर्याय खो जाते हैं और हमारा विकल्प जब विश्लेषणात्मक होता है तब पर्याय उपस्थित रहता है, द्रव्य खो जाता है। अनेकान्त-व्यवस्था के युग में कुछ अविनाभाव के नियम निर्धारित किए गए। यह इस युग की महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है।

अनेकान्त का पहला नियम है सामान्य और विशेष का अविनाभाव सामान्य विशेष का अविनाभावी है और विशेष सामान्य का अविनाभावी है। इसका फलित है कि द्रव्य रहित पर्याय और पर्याय रहित द्रव्य सत्य नहीं है। सत्य और मिथ्या के बीच में कोई विशेष दूरी नहीं है। एक विकल्प सत्य और दूसरा विकल्प असत्य ऐसी विभाजन-रेखा नहीं है। केवल इतनी-सी दूरी है कि सामान्य विशेष से निरपेक्ष होता है और विशेष सामान्य से निरपेक्ष होता है तो वे दोनों विकल्प मिथ्या हो जाते हैं। दोनों एक-दूसरे के प्रति सापेक्ष होते हैं तो दोनों विकल्प सत्य

हो। व्यवहार न विशुद्ध कल्पना पर आधारित है और न विशुद्ध परमार्थ पर। उसका विश्व कल्पित और अकल्पित, दोनों ही प्रकार के तत्त्वों से सपिण्डित है। जहां सौत्रान्तिकों की दृष्टि उसके वस्तु-पक्ष पर केन्द्रित है, विज्ञानवादियों की दृष्टि उसके कल्पना-पक्ष पर। दिङ्नाग ने दोनों को समुच्चित कर एक नई धारा प्रवाहित की।

—अपोहसिद्धि, गोविन्दचन्द्र पाण्डे कृत अनुवाद, पृष्ठ 29

2 अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक 23।

हो जाते हैं। दोनो एक-दूसरे का निरसन करते हैं तो वे मिथ्या हो जाते हैं और दोनो अपने-अपने विषय का प्रतिपादन करते हैं तो सत्य हो जाते है।

2 नित्य और अनित्य का अविनाभाव

अनेकान्त का दूसरा नियम है नित्य और अनित्य का अविनाभाव नित्य अनित्य का अविनाभावी है और अनित्य नित्य का अविनाभावी है।

चार्वाक का अभिमत है कि इन्द्रिय-जगत् ही सत्य है। आध्यात्मिक सत्य जैसा कुछ भी नही है। आत्मवादी दार्शनिको ने कहा आत्मा ही सत्य है, इन्द्रिय-जगत् मिथ्या है। जैन तार्किको ने इसकी समीक्षा की। उन्होंने प्रतिपादित किया इन्द्रिय-जगत् असत्य नही है। सत्य वह है जिसमे अर्थक्रियाकारित्व होता है। इन्द्रियो का अर्थक्रियाकारित्व है, इसलिए वे असत्य नही हैं। उनके विषय भी असत्य नही हैं। सत् का लक्षण है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य।[3] जिसमे अर्थक्रियाकारित्व है, वह उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और ध्रुव भी रहता है। हम इन्द्रिय-जगत् को सत्य और आत्मा को असत्य मानें, यह व्यवहार की भाषा हो सकती है किन्तु सूक्ष्म सत्य की भाषा नही हो सकती। हम केवल आत्मा को ही पारमार्थिक सत्य मानें और इन्द्रिय-जगत् को असत्य मानें यह अध्यात्म की भाषा हो सकती है किन्तु वस्तु-जगत् की भाषा नहीं हो सकती। अध्यात्म और तत्त्व-मीमासा की भाषा एक नही होती। अध्यात्म की भाषा मे इन्द्रिय-विषय क्षणिक है, नश्वर है। भौतिक जगत् से विरति उत्पन्न करने के लिए यह दृष्टिकोण सत्य हो सकता है किन्तु तत्त्व-मीमासा मे यह सत्य नही है। वहा इन्द्रिय-विषय और आत्मा की वास्तविकता मे कोई अन्तर नही है। इस अगुली के परमाणु जितने सत्य है, आत्मा भी उतना ही सत्य है। आत्मा जितना सत्य है, उतने ही इस अगुली के परमाणु सत्य हैं। जो उत्पन्न और नष्ट होता है तथा ध्रुव रहता है, वह सब सत्य है। यह त्रिलक्षणात्मक सत्य जैसा आत्मा मे है वैसा पुद्गल मे है और जैसा पुद्गल मे है वैसा आत्मा मे है। अध्यात्म के मूल्य वस्तु-जगत् के मूल्य बन गए तब क्षणिकता का सिद्धान्त विवादास्पद बन गया। अन्यथा वह बहुत मूल्यवान् है। अध्यात्म के सभी चिन्तको ने उसका प्रतिपादन किया है। जैनो ने भी क्षणभगुरता पर बहुत बल दिया है। उनकी बारह भावनाओ मे पहली अनित्य भावना है। इस भावना से अपने मन को भावित करने वाला साधक 'सर्वमनित्यम् इस सूत्र को बार बार दोहराता है, किन्तु यह आध्यात्मिक पक्ष है। जहा तात्त्विक पक्ष का प्रश्न है वहा जैन दर्शन को यह मान्य नही है कि पौद्गलिक जगत् अनित्य है और आत्मिक जगत् नित्य है। तत्त्व-मीमासा मे आत्मिक जगत् जितना नित्य है उतना ही पौद्गलिक जगत् नित्य है और पौद्गलिक जगत्

3 तत्त्वार्थ, 5/29

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।

जितना अनित्य है उतना ही आत्मिक जगत् अनित्य है। नित्यत्व और अनित्यत्व को विभक्त नहीं किया जा सकता। नित्य को अनित्य मे विभक्त मानने के कारण सांख्य दर्शन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया बन्ध और मोक्ष प्रकृति के होता है। पुरुष के बन्ध और मोक्ष नही होता। वह नित्य-शुद्ध है। पुरुष के बध और मोक्ष मानने पर उसे परिणामि और अनित्य मानना पडता और यह उसे इष्ट नही था, इसलिए पुरुष को बध-मोक्ष से परे माना।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यह निरूपित किया है कि जीव कर्म का कर्त्ता नही है। कर्म कर्म का कर्त्ता है। यदि जीव कर्म का कर्त्ता हो तो वह कर्मसे कभी मुक्त नही हो सकता। वह कर्म का कर्त्ता नही है इसीलिए कर्म से मुक्त होता है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि मे यह सत्य है कि जिसका जो स्वभाव होता है वह कभी नही बदलता। चेतन का अपना विशिष्ट स्वभाव है चैतन्य। वह कभी विनष्ट नहीं होता। उसका काम है—अपनी अनुभूति। फिर वह विजातीय कर्म का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? यह शुद्ध द्रव्यार्थिक या कर्मोपाधि–निरपेक्ष नय है।[4] इस नय से सांख्य दर्शन के प्रकृति के बन्ध मोक्ष वाले सिद्धान्त का समर्थन किया जा सकता है। जैन परिभाषा मे कहा जा सकता है कर्मशरीर के ही बध और मोक्ष होता है। अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय इस विकल्प को स्वीकृति देता है कि जीव कर्म का कर्त्ता है।[5] द्रव्यार्थिक नय सामान्यग्राही है। जहा सामान्य का विकल्प मुख्य होता है वहा पर्याय गौण हो जाता है।[6] नित्यत्व इसीलिए सत्य है कि वस्तु है और वह सदा है। यह निरतरता इसीलिए चल रही है कि वस्तु मे दीर्घकाल तक रहने का गुण है। जहा हम वस्तु के समान अशो का निर्णय करते है वहा एकता, सामान्य और द्रव्यत्व की दृष्टि फलित होती है।

उत्पाद और व्यय का क्रम निरतर चल रहा है। हम कैसे कह सकते है कि यह वही पर्वत है ? यह वही मनुष्य है ? यह वही भवन है जो दस वर्ष पहले हमने

4 बृहद् नयचक्र 191

कम्माण मज्झगद जीव जो गहइ सिद्धसकास।
भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥

5 बृहद् नयचक्र 194

भावे सरायमादी सव्वे जीवम्मि जो दु जपेदि।
सो हु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहिणिरवेक्खो ॥

6 बृहद् नयचक्र 192.

उप्पादवय गउण किच्चा जो गहइ केवला सत्ता।
भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तागाहिओ समये ॥

देखा था ? पुराने परमाणु विस्थापित हो रहे है और नए परमाणु स्थापित हो रहे हैं। हमारे शरीर के भी तदाकार परमाणु विसर्जित हो रहे है और दूसरे परमाणु आ रहे हैं। यदि तदाकार परमाणु विसर्जित नही होते तो अनुपस्थिति मे फोटो लेने की पद्धति आविष्कृत नही होती। परमाणुओ का यह गमनागमन प्रमाणित करता है कि द्रव्य अनित्य है। जब हम उत्तरोत्तर समान पर्यायो को देखते जाते है तब हमे नित्यता की प्रतीति होती है। जब हम भेदो या विशेषो की ओर ध्यान देते है तब हमे अनित्यता की प्रतीति होती है। इन दोनो स्थितियो मे क्या हम नित्य को सत्य मानें या अनित्य को सत्य मानें ? यदि नित्य को सत्य मानते हैं तो अनित्य को मिथ्या मानना होगा और यदि अनित्य को सत्य मानते है तो नित्य को असत्य मानना होगा। एक को सत्य और एक को असत्य मानने वाले परस्पर विवाद कर रहे हैं। एक अनित्यत्व का निरसन कर रहा है तो दूसरा नित्यत्व का निरसन कर रहा है। अनेकान्त किसी एक नय को सत्य नही मानता। उसके अनुसार अनित्य-निरपेक्ष-नित्य सत्य नही होता और नित्य-निरपेक्ष-अनित्य सत्य नही होता। दोनो सापेक्ष होकर ही सत्य होते हैं।[7] आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कोई भी ऐसा सृजन नही है जहा ध्वस न हो और कोई भी ऐसा ध्वस नही है जहा सृजन न हो। कोई भी ऐसा सृजन और ध्वस नही है जहा स्थिति या ध्रुवता न हो। इन तीनो सृजन, ध्वस और स्थिति का समन्वय ही सत्य है।[8] अर्थ-पर्याय क्षणवर्ती पर्याय है। उसके अनुसार यह पर्वत वह नही हो सकता जिसे दस वर्ष पहले हमने देखा था। यह मनुष्य वह नही हो सकता जिसे दस वर्ष पहले हमने देखा था। व्यजन-पर्याय दीर्घकालीन पर्याय है। उसके अनुसार यह पर्वत वही है और यह मनुष्य वही है जिसे हमने दस वर्ष पहले देखा था। अर्थ-पर्याय मे सादृश्यबोध नही होता। व्यजन-पर्याय मे सादृश्यबोध होता है। वैसदृश्य और सादृश्य के आधार पर अनित्यता और नित्यता को फलित करना स्थूल सत्य है, सूक्ष्म सत्य नहीं है। अर्थ-पर्याय मे होने वाला वैसदृश्य और व्यजन-पर्याय मे होने वाला सादृश्य ये दोनो ही पर्याय हैं। इन दोनो से अनित्यता ही फलित होगी। काल की प्रलब श्रृखला मे

7 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 72।

एव विवदति णया मिच्छाभिणिवेसतो परोप्परतो।
इदमिह सव्वणयमय जिणमतमणवज्जमच्चत ॥

8 प्रवचनसार 100, 101

ण भवो भगविहीणो भगो वा णत्थि सभवविहीणो।
उप्पादो वि य भगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥
उप्पादट्ठिदिभगा विज्जते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि सति णियद तम्हा दव्व हवदि सव्व ॥

एक दिन ऐसा आता है कि मनुष्य मर जाता है और पर्वत भी विनष्ट हो जाता है। किन्तु जिन परमाणुओ से पर्वत की सरचना हुई थी वे परमाणु कभी विनष्ट नही होगे। जिन परमाणुओ से मनुष्य के शरीर की सरचना हुई थी वे परमाणु कभी विनष्ट नही होगे। जिस आत्मा ने उस शरीर मे प्राण-सचार किया था वह कभी विनष्ट नही होगा। नित्यता का आधार मूल द्रव्य है। पर्याय क्षणिक हो या दीर्घ-कालीन, विसदृश हो या सदृश, अनित्यता को ही प्रस्थापित करता है।

सामान्य और नित्यता का दृष्टिकोण या व्याख्या द्रव्यार्थिक नय है। विशेष और उत्पाद-व्ययात्मक परिणमन का दृष्टिकोण या व्याख्या पर्यायार्थिक नय है। ये दो मूल नय हैं और परस्पर सापेक्ष है। इनकी सापेक्षता के आधार पर अनेकान्त के 'सामान्य-विशेष का भेदाभेद' और 'सापेक्ष-नित्यानित्यत्व' ये दो सूत्र प्रस्थापित किए गए।

3 अस्तित्व और नास्तित्व का अविनाभाव

अनेकान्त का तीसरा नियम है अस्तित्व और नास्तित्व का अविनाभाव—अस्तित्व नास्तित्व का अविनाभावी है और नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभावी है। प्लेटो का तर्क था कि कुर्सी का काठ कठोर है इसलिए वह हमारे भार को सहन करती है। उसका काठ मृदु है इसलिए उसे कुल्हाडी से काटा जा सकता है। कठोरता और मृदुता दोनो विरोधी धर्म है। विरोधी धर्म एक साथ रह नही सकते, इसलिए कठोरता भी असत्य है, मृदुता भी असत्य है और कुर्सी भी असत्य है। अनेकान्त की पद्धति मे सोचने का यह प्रकार नही है। वहा इस प्रकार सोचा गया कि एक ही द्रव्य मे अनन्त विरोधो का होना अपरिहार्य है। द्रव्य अनन्त धर्मों की समष्टि है। वे धर्म परस्पर विरोधी हैं इसलिए द्रव्य का द्रव्यत्व बना हुआ है। यदि सब धर्म अविरोधी होते तो द्रव्य का द्रव्यत्व समाप्त हो जाता। विरोधी धर्मों का होना द्रव्य का स्वभाव है, तब हम उस विरोध की चिन्ता मे उलझ कर द्रव्य के अस्तित्व को नकारने का प्रयत्न क्यो करें? धर्मकीर्ति के शब्दो मे 'यदिद स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्' यदि विरोध स्वय द्रव्य को रुचिकर है, वहा कौन होते है हम उसकी चिन्ता करने वाले? हमारी चिन्ता यही हो सकती है कि हम उन विरोधी धर्मो के मूल कारणो और उनके समन्वय सूत्र को खोजें। अनेकान्त ने इसकी खोज की और उसने पाया कि अस्तित्व और नास्तित्व दोनो एक साथ होते हैं। प्रतिषेधशून्य-विधि और विधिशून्य-प्रतिषेध कभी नही होता। विधि भी द्रव्य का धर्म है और प्रतिषेध भी द्रव्य का धर्म है। अस्तित्व विधि है और नास्तित्व प्रतिषेध है। अस्तित्व का कारण है द्रव्य का स्वभाव और नास्तित्व का कारण है द्रव्य का पर-भाव। घट जिस मृत्-द्रव्य से बना वह उसका स्व-द्रव्य है, जिस क्षेत्र मे बना वह उसका स्व-क्षेत्र है, जिस काल मे बना वह उसका स्व-काल

है तथा जिस वर्ण और आकृति में है वह उसका स्व-भाव है। स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से उसका नास्तित्व है। यह अपेक्षा समन्वय का सूत्र है। जिस अपेक्षा से घट का अस्तित्व है, उस अपेक्षा से घट का नास्तित्व नही है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनो विरोधी धर्म हैं और दोनो एक द्रव्य मे एक साथ रहते हैं। पर दोनो का कारण एक नही है। अपेक्षा का सूत्र दोनो मे रहे हुए सामजस्य को प्रदर्शित और उनके एक साथ रहने की वास्तविकता को सिद्ध करता है।

आचार्य अकलक ने अस्तित्व और नास्तित्व के विभिन्न कारणो का उल्लेख किया है। स्वात्मा की अपेक्षा घट है, परात्मा की अपेक्षा घट नही है इस प्रतिपादन से प्रश्न उपस्थित हुआ कि घट का स्वात्मा क्या है और परात्मा क्या है? उत्तर मे आचार्य ने बताया जिस वस्तु मे घट-बुद्धि और घट-शब्द का व्यवहार हो वह स्वात्मा और उससे भिन्न परात्मा है। स्वात्मा का उपादान और परात्मा का अपोह इस व्यवस्था से ही वस्तु का वस्तुत्व सिद्ध होता है। यदि स्वात्मा मे 'पट' आदि परात्मा की व्यावृत्ति न हो तो सर्वात्मना सभी रूपो मे घट का व्यपदेश किया जाएगा। परात्मा की व्यावृत्ति होने पर भी यदि स्वात्मा का उपादान न हो तो शशशृंग की भाति वह असत् हो जाएगा।

घट-शब्द-वाच्य अनेक घटो मे से विवक्षित घट का जो आकार आदि है वह स्वात्मा है, अन्य परात्मा। यदि अन्य घटो के आकार से भी विवक्षित घट का अस्तित्व हो तो घट एक ही हो जाएगा।

विवक्षित घट भी अनेक अवस्था वाला होता है। उसकी मध्यवर्ती अवस्था स्वात्मा है, पूर्व और उत्तरवर्ती अवस्था परात्मा है'

विवक्षित घट की मध्यवर्ती अवस्था मे भी प्रतिक्षण उपचय और अपचय होता रहता है। अत वर्तमान क्षण की अवस्था ही स्वात्मा है और अतीत-अनागतकालीन अवस्था परात्मा है। यदि वर्तमान क्षण की भाति अतीत और अनागत क्षणो से भी घट का अस्तित्व माना जाए तो सभी घट एक क्षणवर्ती ही हो जायेंगे। अतीत और अनागत की भाति यदि वर्तमान क्षण से भी घट का नास्तित्व माना जाए तो घट का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

वर्तमान क्षणवर्ती घट मे रूप, रस, गन्ध आकार आदि अनेक गुण और पर्याय होते हैं। घट के रूप को आख से देखकर उसके अस्तित्व का बोध होता है, अत रूप स्वात्मा है, रस आदि परात्मा है। यदि चक्षुग्राह्य घट मे रूप की भाति रस आदि भी स्वात्मा हो जाए तो वे भी चक्षुग्राह्य होने के कारण रूपात्मक हो जाएंगे। इस स्थिति मे अन्य इन्द्रियो की कल्पना व्यर्थ हो जाती है।

घट शब्द के प्रयोग से उत्पन्न घटाकार ज्ञान स्वात्मा है, बाह्य घटाकार परात्मा है।

चेतना के दो आकार होते हैं—

ज्ञानाकार प्रतिबिम्बशून्य दर्पण की भांति।
ज्ञेयाकार प्रतिबिम्बयुक्त दर्पण की भांति।

इनमे ज्ञेयाकार स्वात्मा है और ज्ञानाकार परात्मा है। यदि ज्ञानाकार से घट का अस्तित्व माना जाए तो पट आदि के ज्ञानकाल मे भी घट का व्यवहार होना चाहिए। यदि ज्ञेयाकार से घट का नास्तित्व माना जाए तो घट का व्यवहार ही निराधार हो जाएगा।[9]

4 वाच्य और अवाच्य का अविनाभाव

अनेकान्त का चौथा नियम है—वाच्य और अवाच्य का अविनाभाव वाच्य अवाच्य का अविनाभावी है और अवाच्य वाच्य का अविनाभावी है। द्रव्य अनन्त-धर्मात्मक है। एक क्षण मे युगपत् अनन्त धर्मो का प्रतिपादन नही किया जा सकता, आयु और भाषा की सीमा होने के कारण कभी भी नही किया जा सकता। इस समग्रता की अपेक्षा से द्रव्य अवाच्य है।[10] एक क्षण मे एक धर्म का प्रतिपादन किया जा सकता है। अनेक क्षणो मे अनेक धर्मो का भी प्रतिपादन किया जा सकता है। इस आशिक अपेक्षा से द्रव्य वाच्य है।

अनेकान्त का व्यापक उपयोग

उक्त नियम-चतुष्टयी अनेकान्त का आधार-स्तम्भ है। दर्शनयुग मे दार्शनिक समस्याओ को सुलझाने के लिए इस चतुष्टयी का व्यापक उपयोग हुआ है। प्रमाण व्यवस्था का विकास होने पर भी इसका उपयोग कम नही हुआ। यह सिद्धान्त बराबर मान्य रहा कि अनेकान्त के बिना प्रमाण की व्यवस्था सम्यक् नही हो सकती। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार मे प्रमाण की विवेचना की और अन्त मे अनेकान्त का निरूपण कर उसकी अनिवार्यता स्थापित की। अकलक, विद्यानन्द, हरिभद्र, माणिक्यनन्दि, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि सभी आचार्यो ने प्रमाण की चर्चा

---

9 तत्त्वार्थवार्त्तिक 1161

10 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 450, स्वोपज्ञवृत्ति

उक्कोसयसुतणाणी वि जाणमाणो वि तेऽभिलप्पे वि।
ण तरति सव्वे वोत्तु ण पहुप्पति जेण कालो से॥

इह तानुत्कृष्टश्रुतो जानानोऽभिलाप्यानपि सर्वान् (न) भाषते, अनन्तत्वात्, परिमितत्वाच्चायुष, क्रमवर्तिनीत्वाद् वाच इति।

अनेकान्त की छत्रछाया मे की । प्रमाण-व्यवस्था का विकास होने पर भी अनेकान्त का अवमूल्यन नही हुआ, प्रत्युत अविमूल्यन हुआ । भाव और अभाव, एक और अनेक आदि अविनाभाव के नियमो का व्यवस्थित विकास होता गया ।

आगमयुग मे अनेकान्त के इन नियमो का उपयोग नही होता था ऐसा नही मानना चाहिए । ये नियम दर्शनयुग मे खोजे गए ऐसा भी नही है । दोनो युगो के मध्य केवल उपयोग भूमि का अन्तर है । आगमयुग मे उन नियमो का उपयोग द्रव्य की मीमासा के लिए होता था और दर्शनयुग मे उनका उपयोग विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो मे समन्वय स्थापित करने के लिए किया गया ।

5 अस्ति नास्ति का अविनाभाव

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा 'भते ! क्या अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है ?

भगवान् ने कहा 'हा, गौतम ! ऐसा ही होता है ।'

'भते ! अस्तित्व अस्तित्व मे और नास्तित्व नास्तित्व मे जो परिणत होता है वह प्रयोग से होता है या स्वभाव से होता है ?'

'गौतम ! वह प्रयोग से भी होता है और स्वभाव से भी होता है ।'

'भते ! तुम्हारा अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है, वैसे ही क्या तुम्हारा नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है ? जैसे तुम्हारा नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है, वैसे ही क्या तुम्हारा अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है ?'

'हा, गौतम ! ऐसा ही होता है ।'[11]

11 भगवई, 1/133–135

से नूण भते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ ? नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ ?
हता गोयमा ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ ।

जे ण भते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ, त किं पयोगसा ? वीससा ?
गोयमा ! पयोगसा वि त, वीससा वि त ।

जहा ते भते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ ? जहा ते नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ, तहा ते अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ ?
हता गोयमा ! जहा मे अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ, तहा मे नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ । जहा मे नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ, तहा मे अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ ।

इस सवाद मे अस्तित्व और नास्तित्व के अविनाभाव का प्रतिपादन हुआ है ।

भगवान् महावीर ने 'सर्व अस्ति' और 'सर्व नास्ति'- इन दोनो सिद्धान्तो को स्वीकृति नही दी । उन्होंने 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनो के समन्वय को स्वीकृति दी । भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने अन्य दार्शनिको से कहा —'देवानुप्रियो ! हम अस्ति को नास्ति नही कहते और नास्ति को अस्ति नही कहते । देवानुप्रियो ! हम 'सर्व अस्ति' को अस्ति कहते है और 'सर्व नास्ति' को नास्ति कहते है ।[12]

इस निरूपण मे केवल अस्ति और केवल नास्ति की अस्वीकृति और दोनो के समन्वय की स्वीकृति है । इसमे यह भी स्पष्ट किया गया है कि अस्ति और नास्ति दोनो का अपना-अपना स्थान और अपना-अपना मूल्य है ।

6 नित्य और अनित्य का अविनाभाव

गौतम ने पूछा 'भते ! अस्थिर परिवर्तित होता है, स्थिर परिवर्तित नही होता । अस्थिर भग्न होता है, स्थिर भग्न नही होता । क्या यह सच है ?'

'हा, गौतम ! यह ऐसा ही है ।'[13]

द्रव्य अकम्प और प्रकम्प तथा स्थिर और अस्थिर दोनो का सह-अस्तित्व है । एक अवस्थित और दूसरा निरतर परिणमनशील । जीव अप्रकम्प है, इसलिए वह कभी अजीव नही होता और वह प्रकम्प भी है, इसलिए निरतर विभिन्न अवस्थाओ मे परिणत होता रहता है । मडितपुत्र ने पूछा 'भते ! जीव सदा निरतर प्रकपित होता है और फलत नाना अवस्थाओ मे परिणत होता है । क्या यह सच है ?'

---

12 भगवई, 7/217 ।

तए ण से भगव गोयमे ते अण्णउत्थिए एव वयासी नो खलु वय देवाणुप्पिया ! अत्थि भाव नत्थि त्ति वदामो, नत्थि भाव अत्थि त्ति वदामो । अम्हे ण देवाणुप्पिया ! सव्व अत्थि भाव अत्थि त्ति वदामो, सव्व नत्थि भाव नत्थि त्ति वदामो ।

13 भगवई, 1/440

से नूण भते ! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ ? अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ?

हता गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ । अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ।

हा, मण्डितपुत्र ! यह सच है।'[14]

परमाणु के लिए भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।[15]

द्रव्य की नित्यता का हेतु उसका अप्रकम्प (ध्रौव्यगुण) स्वभाव और अनित्यता का हेतु उसका प्रकम्प (उत्पाद और व्यय) स्वभाव है। निम्न संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है।

गौतम ने पूछा—'भंते ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! जीव स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत। द्रव्य (ध्रौव्य गुण) की अपेक्षा से वह शाश्वत है और भावार्थ (उत्पाद और व्यय) की अपेक्षा से वह अशाश्वत है।'[16]

जीव ही नहीं किन्तु सभी द्रव्य केवल शाश्वत या अशाश्वत नहीं हैं। शाश्वत और अशाश्वत—दोनों हैं।

7 द्रव्य और पर्याय के भेदाभेद का अविनाभाव

'ज्ञान जीव का लक्षण है।'[17] इसमें जीव-द्रव्य और ज्ञान-गुण दोनों भेददृष्टि से प्रतिपादित हैं। जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है वह आत्मा है। 'जीव जिसके द्वारा जानता हैं वह आत्मा है।'[18] इसमें जीव और ज्ञान—दोनों का अभेद प्रतिपादित है।

---

14 भगवई, 3/143।
जीवे णं भंते ! सया समितं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ?
हंता मंडिअपुत्ता ! जीवे णं सया समितं एयति ... तं तं भावं परिणमइ।

15 भगवई, 7/150

16 भगवई, 7/58,59
जीवा णं भंते ! किं सासया ? असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया।
से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जीवा सिय सासया, सिय असासया ?
गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।

17 उत्तरज्झयणाणि, 28/10
जीवो उवओगलक्खणो।

18 आयारो, 5/104
जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। जेण विजाणति से आया।

मृत्तिका द्रव्य है और घट उसका एक पर्याय है। घट मिट्टी से होता है, उसके बिना नही होता—इस अपेक्षा से वह मिट्टी से अभिन्न है। घटाकार परिणति से पूर्व मिट्टी मे घट की क्रिया (जल—धारण) नही हो सकती, इस अपेक्षा से वह मिट्टी से भिन्न भी है।[19] घट कार्य है और मिट्टी उसका उपादान कारण है। द्रव्य और पर्याय मे भेदाभेद सम्बन्ध होता है, अत कार्य—कारण मे भी भेदाभेद सम्बन्ध होता है।

8 एक और अनेक का अविनाभाव

सोमिल ने पूछा 'भते ! आप एक है या अनेक ?'

'सोमिल ! मैं द्रव्य की अपेक्षा से एक हू, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से दो हू। प्रदेश (द्रव्य का घटक अवयव) की अपेक्षा से अक्षय, अव्यय और अवस्थित हू। परिणमनशील चैतन्य—व्यापार (उपयोग) की अपेक्षा से मैं अनेक हू।[20]

एक—अनेक, सामान्य—विशेष और नित्य—अनित्य—इन सबके मूल मे द्रव्य और पर्याय हैं। द्रव्य एक और पर्याय अनेक होते है। द्रव्य सामान्य और पर्याय विशेष होते है। द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य होते है। सामान्य दो प्रकार का होता है—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य।[21]

'मैं एक हू'—यह तिर्यक् सामान्य है। इसमे एकत्व अन्वय या ध्रुवत्व की अनुभूति है। 'मैं चैतन्य—व्यापार (उपयोग) की अपेक्षा से अनेक हू'—यह ऊर्ध्वता—

19 सन्मति प्रकरण, 3/52

नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडो त्ति ज तेण जुज्जइ अणण्णो ।
ज पुण घडो त्ति पुव्व ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥

20 भगवई 18/219,220 .

एगे भव ? दुवे भव ? अक्खए भव ? अव्वए भव ? अवट्ठिए भव ? अणेगभूयभावभविए भव ?

सोमिला ! एगे वि अह जाव अणेगभूयभावभविए वि अह ।

से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ. ?

सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अह, नाणदसणट्ठयाए दुविहे अह, पएसट्ठयाए अक्खए वि अह, अव्वए वि अह, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अह ।

21 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 5/3

सामान्य द्विप्रकार तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यञ्च ।

सामान्य है। इसमे पौर्वापर्य की अनुभूति है। तिर्यक् सामान्य तुल्य परिणति है, जो अनेक अवस्थाओ मे एकत्व स्थापित करती है। ऊर्ध्वता सामान्य पूर्व और उत्तर पर्याय मे होने वाली समान परिणति है जो अतीत, वर्तमान और अनागत—तीनो कालो मे एकत्व स्थापित करती है।

आगम साहित्य मे अनेकान्त और स्याद्वाद का विशद विवेचन मिलता है। आगमिक व्याख्या का यह प्रसिद्ध सूत्र है णत्थि जिणवयणं णयविहीणं कोई भी जिनवचन नयनिरपेक्ष नही होता। आगम के प्रत्येक वाक्य की व्याख्या नयो से की जाती थी। अनुश्रुति के अनुसार दृष्टिवाद नामक पूर्व-ग्रन्थ मे विभिन्न नयो से की गई दार्शनिक चर्चाए उपलब्ध थी। ईसा पूर्व तीसरी शती मे उसका मुख्य भाग लुप्त हो गया, कुछ अश शेप रहे। उन्ही के आधार पर सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य समन्तभद्र ने विभिन्न नयो से दार्शनिक चर्चा या समन्वय करने की पद्धति का सूत्रपात किया। सिद्धसेन ने यह स्थापित किया कि साख्य दर्शन का द्रव्यार्थिक नय मे समावेश होता है और बौद्ध दर्शन का पर्यायार्थिक नय मे समावेश होता है। इस प्रकार सभी दर्शनो के सिद्धान्तो की विभिन्न नयो से तुलना की है, उनमे सापेक्षदृष्टि से समन्वय प्रदर्शित किया है। इस विषय मे उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है—'सन्मतितर्क'। आचार्य समन्तभद्र की महत्त्वपूर्ण रचना है आप्तमीमासा। उनमे उन्होने नित्यानित्य सामान्य-विशेष, भेदाभेद, भावाभाव आदि विरोधी वादो मे सप्तभगी की योजना कर समन्वय स्थापित किया है। ये दोनो ग्रन्थ अनेकान्त-व्यवस्था के आधारभूत हैं।

अनेकान्त फलित और समस्याएं

अनेकान्त की दृष्टि से दार्शनिक चर्चा ने जो धारा प्रवाहित की वह उत्तरोत्तर गतिशील होती गई। ईसा की आठवी शती मे आचार्य अकलक और हरिभद्र ने उसे और अधिक विशाल बना दिया। आचार्य हरिभद्र का 'अनेकान्तजयपताका नामक ग्रन्थ उसका स्वयभू प्रमाण है। समन्वय की दिशा भी निरन्तर विकसित होती गई। उससे एक समस्या भी उत्पन्न हुई। दार्शनिक जगत् में यह प्रश्न उपस्थित होने लगा कि जैन दर्शन क्या दूसरे-दूसरे दर्शनो का पुलिन्दामात्र है या उसका अपना कुछ मौलिक विचार भी है ? कुछ आधुनिक विद्वान भी इस भाषा मे सोचते और बोलते हैं कि जैन दार्शनिको ने दूसरो के सिद्धान्तो को अपना कर अपने दर्शन का विकास किया है। इस प्रकार के विचार निर्माण मे जैनो की समन्वयवृत्ति ही निमित्त है। वाचक उमास्वाति के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था क्या ये विविध नय विभिन्न दर्शनो के मतवादो का सकलन हैं या अपनी मति से उत्पन्न किए गए पक्षग्राही विकल्प हैं ? उन्होने इस प्रश्न के समाधान मे कहा ये नय न तो विभिन्न दर्शनो के मतवादो का सकलन है और न ही स्वेच्छा से उत्पन्न किए गए विकल्प हैं। किन्तु

अनन्तधर्मात्मक ज्ञेय पदार्थ के विषय में होने वाले विभिन्न अध्यवसाय (निर्णय) हैं।[22]

इस विषय का विशद विवेचन 'नयवाद' में किया जाएगा।[23]

□ □ □

22 तत्वार्थभाष्य, 1/35

किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित् स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति । अत्रोच्यते । नैते तन्त्रान्तरीया नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविता । ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि ।

23 देखें प्रकरण चौथा ।

. 4

नयवाद : अनन्त पर्याय, अनन्त दृष्टिकोण

संग्रह और व्यवहार नय

अस्तित्व द्रव्य का सामान्य गुण है। कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जिसका अस्तित्व न हो। इस अस्तित्व गुण के आधार पर द्रव्यमात्र का अद्वैत फलित होता है।[1] उस अद्वैत का चरम शिखर है—सत्ता (महासत्ता या परम सामान्य)। इस सत्ता के आधार पर विश्व की व्याख्या इन शब्दों मे होगी 'विश्व एक है, क्योंकि सत्ता सर्वत्र सामान्यरूप से व्याप्त है।'[2]

यह अद्वैत दृष्टि संग्रहनय है। अनेकान्त के व्याख्याकारो ने इस नय के आधार पर वेदान्त, साख्य आदि दर्शनो के विचारो का समन्वय किया है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि उन्होंने यह अद्वैत या सामान्य की दृष्टि वेदान्त या साख्य दर्शन से ऋणरूप मे प्राप्त की है। उन्होंने सत्ता का निरपेक्ष—अद्वैत मानने वाले दर्शनो के एकागी दृष्टिकोण की समालोचना की है। सत्ता तात्त्विक है और विशेष अतात्त्विक है। यह संग्रहनय का आभास है। सत्ता गुण की अपेक्षा मे विश्व एक हो सकता है, किन्तु द्रव्य मे सत्ता के अतिरिक्त अन्य गुण भी हैं। 'विशेष' द्रव्य का एक गुण है। उस गुण के आधार पर जब विश्व की व्याख्या करते है तब द्वैत फलित हो जाता है। सत्ता के दो-रूप हैं—द्रव्य और पर्याय।[3]

सामान्य द्रव्य का गुण है। उसके आधार पर होने वाला अध्यवसाय (निर्णय) अद्वैत का समर्थन करता है। विशेष भी द्रव्य का गुण है। उसके आधार पर होने वाला अध्यवसाय द्वैत का समर्थन करता है। इस प्रकार द्रव्य मे जितने गुण, धर्म या पर्याय हैं उतने ही उनके अध्यवसाय—निर्णयात्मक दृष्टिकोण हैं। इसीलिए

1 बृहद् नयचक्र, 246

सव्वाण सहावाण, अत्थित्त पुण सुपरमसब्भाव।
अत्थिसहावा सव्वे, अत्थित्त सव्वभावगय॥

2 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7।16।

विश्वमेक सदविशेषादिति।

3 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7।24

यत् सत् तद् द्रव्य पर्यायो वा।

नयवाद के आधार पर द्रव्य के किसी भी गुण पर आधारित विचार का समर्थन किया जा सकता है। समन्वय इस नयवाद की देन है, इसलिए यह भ्रम नही होना चाहिए कि नयवाद विभिन्न दर्शनो के विचार-सकलन का प्रतिफलन है।

नैगमनय

द्रव्य अनन्त धर्मात्मक है किन्तु सर्वात्मक नही है। जीव द्रव्य मे भी अनन्त धर्म है और अजीव द्रव्य मे भी अनन्त धर्म हैं। जीव और अजीव मे अत्यन्ताभाव है--जीव कभी अजीव नही होता और अजीव कभी जीव नही होता। इस अत्यन्ताभाव का हेतु उनके स्वरूप का वैशिष्ट्य हैं। जीव मे चैतन्य नाम का विशिष्ट गुण है। वह अजीव मे नही है। अजीव द्रव्य के पाच प्रकार हैं

(1) धर्मास्तिकाय गति गुण।
(2) अधर्मास्तिकाय स्थिति गुण।
(3) आकाशास्तिकाय--अवकाश गुण।
(4) पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श गुण।
(5) काल वर्तना गुण।

अजीव के ये विशिष्ट गुण जीव मे नही। इन विशिष्ट गुणो के आधार पर जीव और अजीव का विभाग होता है। सामान्य गुणो के आधार पर जीव और अजीव की एकता स्थापित होती है और विशेष गुणो के आधार पर उनकी भिन्नता स्थापित होती है। द्रव्य नि स्वभाव नही है। उसका द्रव्यत्व बाहरी सबधो और देश-काल की अपेक्षाओ से प्रस्थापित नही है। प्रत्येक द्रव्य का अपना मौलिक स्वरूप है, अपना वैशिष्ट्य है। सबध और अपेक्षा से फलित होने वाले गुण उसे उपलब्ध होते हैं, पर वे उसके स्वरूप के निर्णायक नही होते।

द्रव्य मे धर्म होते हैं इसलिए उसे धर्मी कहा जाता है। धर्म दो प्रकार के होते हैं गुण और पर्याय। गुण सहभावी धर्म होते हैं और पर्याय क्रमभावी। चैतन्य जीव का सहभावी धर्म है। सुख, दु ख, हर्ष और शोक ये उसके क्रमभावी धर्म हैं। धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न नही है और सर्वथा अभिन्न नही है। धर्म धर्मी मे ही होते हैं--इस आधार और आधेयभाव के कारण वे सर्वथा भिन्न नही हैं। धर्मी एक और धर्म अनेक इस दृष्टिकोण से वे सर्वथा अभिन्न नही हैं। उनमे अभेद और भेद--दोनो समन्वित हैं। इस समन्वय के आधार पर दो अध्यवसाय निर्मित होते हैं

1 जीव है यह अभेद-प्रधान अध्यवसाय है। इसमे 'ज्ञान' धर्म 'जीव' धर्मी से भिन्न विवक्षित नही है।

2 ज्ञानवान् जीव है यह भेद-प्रधान अध्यवसाय है। इसमे 'ज्ञान' धर्म 'जीव' धर्मी से भिन्न विवक्षित है।

अभेद-प्रधान दृष्टिकोण मे धर्म गौण और धर्मी मुख्य होता है। भेद-प्रधान दृष्टिकोण मे धर्म मुख्य और धर्मी गौण होता है।

द्रव्य मे पर्यायो का चक्र चलता रहता है। वर्तमान क्षण मे होने वाले पर्याय सत् होते हैं। भूत और भावी पर्याय असत् होते हैं। सत् पर्याय वस्तुस्पर्शी होता है और असत् पर्याय ज्ञाननिष्ठ होता है। जो पर्याय बीत चुका वह वस्तु मे नही रहता, पर हमारे ज्ञान मे रहता है। हमारे मस्तिष्क मे किसी वस्तु के निर्माण की कल्पना उत्पन्न होती है और हम उसका काल्पनिक चित्र बना लेते है। वस्तु-जगत् मे उसका अस्तित्व नही होता किन्तु हमारे ज्ञान मे वह अवस्थित हो जाता है। सभी भूत और भावी पर्याय हमारे ज्ञान मे ही होते हैं। सकल्प एक सचाई है, इसलिए उसके आधार पर उत्पन्न होने वाले अध्यवसाय हमारे व्यवहार का सचालन करते हैं। नैगमनय सकल्प की सचाई को भी स्वीकार करता है।

कार्य-कारण, आधार-आधेय आदि की दृष्टि से होने वाले उपचारो की प्रामाणिकता भी इसी नय के आधार पर सिद्ध की जाती है।

1 कार्य मे कारण का उपचार

'एक वर्ष का पौधा' इसमे पौधे का परिणमन कार्य है। एक वर्ष का काल उसका कारण है। कार्य मे कारण का उपचार कर पौधे को एक वर्ष का कहा जाता है।

2 कारण मे कार्य का उपचार

हिंसा दु ख है। हिंसा दु ख का कारण है। कारण मे कार्य का उपचार कर हिंसा को ही दु ख कहा जाता है।

3 आधार मे आधेय का उपचार

वास्तव मे जीव ही मोक्ष होता है। वे मुक्त जीव जिस लोकाग्र मे रहते है, उपचार से उसे भी मोक्ष कहा जाता है।

4 आधेय मे आधार का उपचार

मचान पर बैठे लोग चिल्लाते हैं। उपचार से कहा जाता है मचान चिल्लाता है।

धर्म और धर्मी तथा अवयव और अवयवी मे सर्वथा भेद करने वाला दृष्टि-कोण प्रस्तुत नय को मान्य नही है, इसलिए उसे नैगमाभास कहा जाता है। वैशेषिक धर्म और धर्मी मे सर्वथा भेद मानते हैं, इसलिए उनका यह विचार नैगमाभास के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

ऋजुसूत्रनय

अनेक द्रव्यो के आधार पर अभेद और भेद के अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं, वैसे ही एक द्रव्य मे भी अभेद और भेद के अध्यवसाय उत्पन्न होते है। द्रव्य की अविच्छित्ति के आधार पर अभेद का अध्यवसाय उत्पन्न होता है और कालक्रम से होने वाले पर्यायो के आधार पर भेद का अध्यवसाय उत्पन्न होता है। अतीत और अनागत पर्यायो की उपेक्षा कर प्रत्युत्पन्न पर्याय को स्वीकृति देने वाला अध्यवसाय ऋजुसूत्रनय है। इसे विविध आकारो मे समझा जा सकता है।[4]

1 **क्रियमाणकृत** एक वस्त्र का निर्माण किया जा रहा है। यह दीर्घ-कालीन क्रिया है, किन्तु उसका जो अश प्रत्युत्पन्न है वह कृत है। यदि प्रत्युत्पन्न अश को कृत न माना जाए तो निर्माण के अतिम क्षण मे भी उसे निर्मित नही माना जा सकता। प्रथम क्षण मे वस्त्र की सर्वांशत अनिष्पत्ति नही है। अत जितनी निष्पत्ति है उसे कृत मानना चाहिए। यह प्रत्युत्पन्न क्षण से उत्पन्न होने वाला अध्यवसाय है।

2 **निर्हेतुक विनाश** उत्पन्न होना और नष्ट होना वस्तु का स्वभाव है। उत्पत्ति ही वस्तु के विनाश का हेतु है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि पहले क्षण मे वह उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाती है। जो वस्तु उत्पत्ति-क्षण के अनन्तर नष्ट न हो तो फिर वह कभी नष्ट नही हो सकती।[5] घट पत्थर आदि किसी दूसरी वस्तु के योग से फूटता है विनष्ट होता है, यह स्थूल जगत् का नियम है। सूक्ष्म जगत मे यह नियम घटित नही होता।

3 **निर्हेतुक उत्पाद** जो उत्पन्न हो रहा है वह अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण मे अपने कार्यभूत दूसरे क्षण को उत्पन्न नही करता। जो उत्पन्न हो चुका है वह दूसरे क्षण मे विनष्ट हो जाता है, इसलिए अपने कार्यभूत दूसरे क्षण को उत्पन्न नही करता। पूर्वक्षण की सत्ता उत्तरक्षण की सत्ता को उत्पन्न नही करती। अत उत्पाद का कोई हेतु नही है, वह स्वभाव से ही होता है।

4 **वर्ण आदि 'पर्याय' द्रव्याश्रित नहीं होते** कौआ काला नही है। वे दोनो अपने-अपने स्वरूप मे हैं काला रग काला है और कौआ कौआ है। यदि काले रग को कौआ माना जाए तो भवरे आदि को भी काले होने के कारण कौआ मानना

4 तत्त्वार्थवार्तिक, 1133, कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 223-243।

5 कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 227 पर उद्धृत

जातिरेव हि भावाना, निरोधे हेतुरिष्यते।
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात् स केन व ॥

होगा । यदि काला रग कौए का स्वरूप हो तो फिर सफेद कौआ नही हो सकता कौए के लाल मास, सफेद हड्डी और पीले पित्त को भी फिर काला मानना होगा । वस्तुत ऐसा नही है, अत काला रग अपने स्वरूप मे काला है और कौआ अपने स्वरूप मे कौआ है ।

5 **सामानाधिकरण्य का अभाव** काले रंग और कौए मे सामानाधिकरण्य—दो धर्मो का एक अधिकरण नही होता, क्योकि विभिन्न शक्तियुक्त पर्याय ही अपना अस्तित्व रखते हैं, द्रव्य कुछ नही है । यदि काले रग की प्रधानता मे कौए को काला कहा जाए तो काले रग की प्रधानता वाली कवली को भी कौआ कहना होगा ।

6 **विशेषण-विशेष्यभाव नहीं होता** दो भिन्न पर्यायो मे विशेषण-विशेष्य का भाव मानने पर अव्यवस्था उत्पन्न होती है और अभिन्न पर्यायो मे विशेषण-विशेष्यभाव होता नही ।

7 **ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं होता** ज्ञान के द्वारा असबद्ध अर्थ का ग्रहण नही होता । यदि असबद्ध अर्थ का ग्रहण माना जाए तो सभी पदार्थो का ग्रहण प्राप्त हो जाएगा । फिर ग्रहण की नियत व्यवस्था नही रहेगी । ज्ञान के द्वारा सबद्ध अर्थ का ग्रहण भी नही होता, क्योकि ग्रहणकाल मे वह रहता ही नही ।

8 **वाच्य-वाचकभाव नहीं होता** सबद्ध—अर्थ शब्द का वाच्य नही होता, क्योकि उसके साथ सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है तब शब्द-प्रयोगकाल मे वह अतीत हो जाता है । असबद्ध अर्थ को शब्द का वाच्य मानने पर अव्यवस्था होती है । अत असबद्ध अर्थ भी शब्द का वाच्य नही होता ।

अर्थ से शब्द की उत्पत्ति नही होती । उसकी उत्पत्ति तालु आदि से होती है, यह प्रत्यक्ष है । शब्द से अर्थ की उत्पत्ति नही होती । शब्द की उत्पत्ति से पहले ही अर्थ की उपलब्धि होती है ।

शब्द और अर्थ मे तादात्म्यसम्बन्ध भी नही है । शब्द भिन्न देश मे रहता है और अर्थ भिन्न देश मे । शब्द श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य है और अर्थ अन्य इन्द्रियो से भी ग्राह्य है । इस अधिकरण और करण (इन्द्रिय) के भेद की स्थिति मे तादात्म्यसम्बन्ध हो नहीं सकता । यदि शब्द और अर्थ मे तादात्म्यसम्बन्ध माना जाए तो अग्नि शब्द के उच्चारण से मुह के जल जाने का प्रसग आता है ।

अर्थ की भाति विकल्प भी शब्द का वाच्य नही है । अर्थ को शब्द का वाच्य मानने पर जिन दोषो का उद्‌भव होता है, विकल्प को शब्द का वाच्य मानने पर भी उन्ही दोषो की प्रसक्ति होती है ।

ऋजुसूत्रनय प्रत्युत्पन्न एकक्षणवर्ती पर्याय से उत्पन्न अध्यवसाय है। यह अतीत और अनागत को स्वीकृति नही देता। दो पर्यायो और सम्बन्धो को भी यह मान्य नही करता। प्रस्तुत अध्यवसाय लोक व्यवहार-सम्मत नही है इस प्रश्न को उपस्थित कर यह बताया गया कि यह एक दृष्टिकोण है। लोक व्यवहार का प्रतिनिधित्व करने वाला दृष्टिकोण नैगमनय है।[6] व्यवहार सब नयो के समूह से सिद्ध होता है। एक नय के अध्यवसाय से उसकी सिद्धि की अपेक्षा नही होनी चाहिए।[7]

ऋजुसूत्रनय से बौद्धो के क्षणिकवाद की तुलना की जाती है, किन्तु बौद्धदृष्टि सर्वनयसापेक्ष नही है इसलिए उसे ऋजुसूत्रनय के आभास के रूप मे भी उदाहृत किया गया है।[8]

शब्दनय

शब्द हमारे व्यवहार और ज्ञान का एक शक्तिशाली माध्यम है। मनुष्य समाज ने उस (शब्द) मे सकेत आरोपित किए हैं और उनके आधार पर उसमे अर्थबोध कराने की क्षमता निहित है। उसमे स्वाभाविक सामर्थ्य भी है। वह वक्ता के मुह से निकल कर श्रोता तक पहुचता है। यह अभिव्यक्ति का सामर्थ्य अगुली आदि के सकेतो मे भी है, पर शब्द मे जितना स्पष्ट है उतना अन्य किसी मे नही है, इसी लिए हम अर्थबोध के लिए शब्द का सहारा लेते हैं। शब्दो के आधार पर हमारे अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं इसलिए नयशास्त्र मे शब्द-रचना या वाक्य-रचना की बहुत सूक्ष्म मीमासा की गई है। लौकिक शब्दशास्त्र मे काल, कारक आदि के भिन्न होने पर भी वाच्य को भिन्न नही माना जाता किन्तु शब्दनय को यह मत स्वीकार्य नही है। उसका अध्यवसाय यह है कि काल आदि के द्वारा वाचक का भेद होने पर वाच्य-अर्थ भिन्न हो जाता है।

कालभेद से अर्थभेद

जयपुर था।
जयपुर है।
जयपुर होगा।

6 तत्त्वार्थवार्त्तिक, 133
सर्वसव्यवहारलोप इति चेत्, न, विषयमात्रप्रदर्शनात्, पूर्वनयवक्तव्यात् सव्यवहारसिद्धिर्भवति।

7 सर्वार्थसिद्धि, 133
सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसव्यवहार।

8 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7130, 31
सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभास। यथा—तथागतमतम्।

अतीतकालीन, वर्तमानकालीन और भविष्यकालीन जयपुर एक नहीं हो सकते।

लिंगभेद से अर्थभेद

सामने पहाड है।
सामने पहाडी है।
पहाड और पहाडी एक नही हो सकते।

वचनभेद से अर्थभेद

मनुष्य जा रहा है।
मनुष्य जा रहे हैं।

जहा अर्थभेद विवक्षित होता है वही काल आदि के द्वारा शब्द का भेद किया जाता है। इसीलिए यह अध्यवसाय निर्मित होता है कि जहा काल आदि कृत शब्दभेद हो वहा अर्थभेद होना ही चाहिए।

समभिरूढनय

समभिरूढनय का अध्यवसाय शब्दनय से सूक्ष्म है। इसके अनुसार एक वाच्य-अर्थ मे अनेक वाचक-शब्दो का प्रयोग नही किया जा सकता। हम अर्थ के जिस पर्याय का बोध या प्रतिपादन करना चाहते है उसके लिए उसी पर्याय-प्रत्यायक शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्दकोष मे एकार्थक या पर्यायवाची शब्दो को मान्यता प्राप्त है, किन्तु प्रस्तुत नय उन्हे मान्य नही करता। यह नय इस सिद्धान्त की स्थापना करता है कि वाच्य-अर्थ की भिन्नता हुए बिना वाचक—शब्द की भिन्नता नही हो सकती। ऐसे कोई भी दो शब्द नही हैं जो एक ही वाच्य-अर्थ के लिए प्रयुक्त किए जा सकते हो। दो भिन्न शब्दो का एक वाच्य-अर्थ के लिए प्रयोग करने पर विरोध प्राप्त होता है। दो शब्दो की शक्ति समान नही होती। यदि उनकी शक्ति समान मानी जाए तो ये फिर दो नही होगे। उन्हे एक ही मानना होगा, इसलिए भिन्न-भिन्न वाचक-शब्दो का प्रयोग भिन्न-भिन्न वाच्य-अर्थो के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि शब्द वस्तु (अर्थ) का धर्म नही है, क्योकि वह वस्तु से भिन्न है। शब्द की अर्थक्रिया वस्तु की अर्थक्रिया से भिन्न है। शब्द की उत्पत्ति का कारण वस्तु की उत्पत्ति के कारण से भिन्न है। शब्द और वस्तु मे उपाय—उपेयभाव सबध है। शब्द के द्वारा वस्तु का बोध होता है इसलिए शब्द उपाय है और वस्तु उपेय है। शब्द और वस्तु का अभेद-सबध नही है तो फिर शब्द के भेद से वस्तु का भेद कैसे माना जा सकता है ?

इसका समाधान प्रमाण और सूर्य आदि प्रकाशी द्रव्यो के आलोक मे खोजा जा सकता है । जैसे—

(1) प्रमाण का प्रमेय (वस्तु) के साथ अभेद सबध नही है फिर भी प्रमाण प्रमेय का निर्णय करता है । प्रमाण और प्रमेय मे भेद होने पर भी यदि ग्राह्य-ग्राहक सबध स्वीकार किया जा सकता है तो शब्द और वस्तु की भिन्नता होने पर उनमे वाच्य-वाचक सबध क्यो नही स्वीकार किया जा सकता ?

(2) सूर्य, प्रदीप आदि प्रकाशी पदार्थ घट आदि प्रकाश्य वस्तुओ से भिन्न होते हुए भी उन्हे प्रकाशित करते हैं । प्रदीप और घट मे भिन्नता होने पर भी यदि प्रकाश्य और प्रकाशक का सबध हो सकता है तो शब्द और वस्तु मे वाच्य-वाचक, सबध क्यो नही हो सकता ?

शब्द और वस्तु मे वाचक-वाच्यभाव सबध है इसलिए वाचक-शब्द का भेद होने पर वाच्य-अर्थ का भेद होना ही चाहिए ।

शब्द-भेद के आधार पर होने वाले अर्थ-भेद को इन रूपो मे समझा जा सकता है ।

(क) यह मर्त्य है ।

(ख) यह पुरुष है ।

ये दोनो मनुष्य के पर्यायवादी शब्द है, किन्तु भिन्न-भिन्न पर्यायो के वाचक होने के कारण से एकार्थक नही हैं ।

(क) मनुष्य मरणधर्मा है इसलिए 'मर्त्य' है । यह शब्द मनुष्य की मरण-पर्याय का निर्वचन करता है ।

(ख) मनुष्य शरीर मे रहता है (पुरि शेते-पुरुष) इसलिए 'पुरुष' है । यह शब्द मनुष्य के शरीर-पर्याय का निर्वचन करता है ।

(क) यह भागीरथी का प्रवाह है ।

(ख) यह हैमवती का स्रोत है ।

इन वाक्यो मे भागीरथी और हैमवती—ये दोनो गगा के पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न पर्यायो के वाचक होने के कारण ये एकार्थक नही हैं ।

(क) गगा भगीरथ के द्वारा प्रवाहित की गई, इसलिए वह भागीरथी है ।

(ख) गगा का उत्स हिमालय पर्वत है, इसलिए वह हैमवती है ।

एवंभूतनय

अतीत और भावी पर्याय का बोध कराने वाले शब्द का प्रयोग समुचित नही है यह इस नय का अध्यवसाय है। अर्थबोध के लिए शब्द का प्रयोग वही होना चाहिए जो वर्तमान पर्याय (या क्रिया) का वाचक हो।

अध्यापक विद्यार्थी को पढा रहा है।

इस वाक्य मे अध्यापन क्रिया मे परिणत व्यक्ति को अध्यापक कहा गया है, इसलिए यह समुचित प्रयोग है।

अध्यापक भोजन कर रहा है।

इस वाक्य मे अध्यापक शब्द का प्रयोग समुचित नही है। वह भोजन की क्रिया मे परिणत है इसलिए उसे अध्यापक नही कहा जा सकता है।

नय की मर्यादा

द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष। ये दो ही मूलभूत प्रमेय हैं। इन्ही के आधार पर नय के दो मौलिक भेद किए गए हैं

(1) द्रव्य या सामान्य बोध का अध्यवसाय द्रव्यार्थिकनय।
(2) पर्याय या विशेष बोध का अध्यवसाय पर्यायार्थिकनय।

नैगम, सग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिकनय है। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत—ये चार पर्यायार्थिकनय हैं।

प्रथम चार नय अर्थाश्रयी होने के कारण अर्थनय और अतिम तीन शब्दाश्रयी होने के कारण शब्दनय कहलाते हैं। यह नयो के विभाजन की दूसरी मर्यादा है।

नैगम नय सकल्पग्राही होने के कारण तथा भूत-भावी पर्याय वस्तु मे नही रहते, ज्ञान मे रहते हैं अत वह ज्ञाननय भी है।

नय के दो कार्य हैं अर्थबोध और अर्थ का प्रतिपादन। अर्थबोध की अपेक्षा से सभी नय ज्ञाननय हैं और अर्थ-प्रतिपादन की अपेक्षा से सभी नय शब्दनय हैं।[9]

हम द्रव्य के पारमार्थिक स्वरूप या उपादान का निरूपण भी करते है और उसका निरूपण पर निमित्त से होने वाले पर्यायो के द्वारा भी करते हैं। प्रथम निरूपण निश्चयनय है और दूसरा व्यवहारनय।

9 तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, 1133

सर्वे शब्दनयास्तेन, परार्थप्रतिपादने।
स्वार्थप्रकाशने मातुरिमे ज्ञाननया स्थिता ॥

अनेकान्त के मूल विभाग दो हैं प्रमाण और नय । प्रमाण सम्पूर्ण अर्थ का विनिश्चय करता है और नय अर्थ के एक अंश का विनिश्चय करता है । स्याद्वाद के द्वारा ज्ञात अखंड वस्तु के खंड-खंड का अध्यवसाय जब हम करते हैं तब नय-पद्धति का सहारा लेते हैं ।[10] घड़े में भरे हुए समुद्र के जल को समुद्र भी नहीं कहा जा सकता और अ-समुद्र भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु समुद्रांश कहा जा सकता है । वैसे ही प्रमाण से उत्पन्न होने पर भी नय को प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता । और अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता ।[11]

नय अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करता है, दूसरे के पक्ष का खण्डन नहीं करता, इसीलिए वह नय है ।[12] दूसरे के पक्ष का खण्डन करने वाला निरपेक्ष होने के कारण दुर्नय हो जाता है ।

निरपेक्ष नय विवाद उत्पन्न करता है । सापेक्ष या समुदित नय संवाद उत्पन्न करता है ।

जैसे एक सूत्र में गुंफित रत्न अपनी पृथक्-पृथक संज्ञाओं को मिटाकर रत्नावली की संज्ञा को प्राप्त होते हैं, वैसे ही पृथक्-पृथक् अध्यवसाय वाले नय सापेक्षता के सूत्र में आबद्ध होकर अनेकान्त की संज्ञा को प्राप्त होते हैं ।[13]

अनेकान्त का मर्मज्ञ नहीं कहता कि यह नय सत्य है और यह नय मिथ्या है । वह इस वास्तविकता की घोषणा करता है कि निरपेक्ष नय मिथ्या और सापेक्ष नय सत्य है ।

निक्षेप

निक्षेप विशिष्ट शब्द-प्रयोग की पद्धति है । एक शब्द अर्थ के अनेक पर्यायों तथा आरोपों को अभिव्यक्त करता है । उस अभिव्यक्ति के लिए एक ही शब्द अनेक

10 आप्तमीमांसा, 106

सधर्मणैव साध्यस्य, साधर्म्यादविरोधतः ।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥

11 तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, 1।6

नायं वस्तु न चावस्तु, वस्त्वंशः कथ्यते यतः ।
नासमुद्रः समुद्रो वा, समुद्रांशो यथोच्यते ॥

12 सन्मति प्रकरण, 1।28

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा ।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥

13 सन्मति प्रकरण, 1।22-25 ।

विशेषणों से विशेषित होता है। जैसे–नाम मनुष्य, स्थापना मनुष्य, द्रव्य मनुष्य, भाव मनुष्य।

निक्षेप की पद्धति आगमयुग मे ही विकसित हो चुकी थी। दर्शनयुग और प्रमाण–व्यवस्था युग मे भी उसका उपयोग सतत होता रहा। अनेकार्थक शब्द के विवक्षित अर्थ की निर्णय–विधि अलकारशास्त्र मे वर्णित है, किन्तु एकार्थक शब्द के विवक्षित अर्थ की निर्णय–विधि केवल जैन आगमो के व्याख्या ग्रन्थो मे ही उपलब्ध होती है। यह केवल तर्कशास्त्र के लिए ही उपयोगी नही है, किन्तु प्रत्येक शास्त्र के विवक्षित अर्थ को जानने के लिए इसकी विश्लेषण पद्धति बहुत मूल्यवान् है।

हमारे ज्ञान और व्यवहार का क्रमिक विकास इस प्रकार होता है सर्वप्रथम हम प्रमाण के द्वारा अखड वस्तु का बोध करते है। तत् पश्चात् नय के द्वारा उसके खड-खड का बोध करते है। पहले ज्ञान सश्लेषणात्मक होता है फिर विश्लेषणात्मक। जब प्रमाण और नय के द्वारा पदार्थ ज्ञात हो जाता है तब उसका नामकरण किया जाता है। जैसे— जल धारण करने तथा विशिष्ट आकार वाले पदार्थ का घट नामकरण किया। घट पदार्थ और घट शब्द की सम्बन्ध-योजना होने पर पदार्थ घट शब्द का वाच्य और घट शब्द उसका वाचक हो जाता है। यह प्राथमिक प्रक्रिया है, किन्तु कालक्रम से शब्द का अर्थ-विस्तार होता जाता है। जलधारण की क्रिया से शून्य घट की प्रतिकृति या चित्र भी घट नाम से अभिहित होता है। घट की प्रथम अवस्था मृत्-पिड और उसकी भग्नावस्था कपाल भी घट शब्द से अभिहित होता है। जब एक शब्द का अर्थ विस्तार हो जाता है तब इसका निर्णय आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तुत प्रकरण मे प्रयुक्त शब्द का विवक्षित अर्थ क्या है? उस विवक्षित अर्थ को जानने के लिए ही नाम के साथ विशेषण जोडकर उनमे भेद किया जाता है। यही निक्षेप की पद्धति है।[14]

निक्षेप की इयत्ता नही है। जो शब्द जितने अर्थों को प्रकाशित करता है, उतने ही उसके निक्षेप किए जा सकते हैं। कम से कम चार निक्षेप तो प्रत्येक शब्द के होते हैं। पदार्थ का कोई न कोई नाम होता है और कोई आकार भी होता है। उसके भूत-भावी पर्याय होते हैं और वर्तमान पर्याय भी होता है। अत निक्षेप-चतुष्टयी स्वत फलित होती है

1 नाम निक्षेप पदार्थ का नामाश्रित व्यवहार।
2 स्थापना निक्षेप पदार्थ का आकाराश्रित व्यवहार।

14 लघीयस्त्रय, 74, स्वोपज्ञविवृति

तदविगताना वाच्यतामापन्नाना वाचकेषु भेदोपन्याम न्यास ।

3 द्रव्यनिक्षेप पदार्थ का भूत और भावी पर्यायाश्रित व्यवहार ।

4 भावनिक्षेप पदार्थ का वर्तमान पर्यायाश्रित व्यवहार ।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने निक्षेप की व्याख्या भिन्न प्रकार से भी की है । उनके अनुसार पदार्थ की सज्ञा नाम निक्षेप है । उसका आकार स्थापना निक्षेप है । कारणरूप पदार्थ द्रव्यनिक्षेप है । कार्यरूप पदार्थ भावनिक्षेप है ।[15] सज्ञाकरण, आकृतिकरण, कारण-व्यवस्था और कार्य-व्यवस्था— ये व्यवहार जगत् मे अवतरित वस्तु के न्यूनतम पर्याय हैं। इसीलिए जो वस्तु है वह चतुष्पर्यायात्मक अवश्य ही होती है ।[16]

नय और निक्षेप

नय अर्थात्मक, ज्ञानात्मक और शब्दात्मक होते है, वैसे ही निक्षेप भी तीनो प्रकार के होते है ।[17] नय ज्ञान है और निक्षेप व्यवहार है । इनमे विषय और विषयी का सबध है

विषय ↓		विषयी ↓
नामनिक्षेप	शब्दात्मक व्यवहार	शब्दनय ।
स्थापनानिक्षेप	ज्ञानात्मक व्यवहार	सकल्पग्राही नैगमनय ।
द्रव्यनिक्षेप	अर्थात्मक व्यवहार	नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ।[18]
भावनिक्षेप	अर्थात्मक व्यवहार	शब्दनय ।

15 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 60 ।

अघवा वत्थभिधाण णाम ठवणा य जो तदागारो ।
कारणया से दव्व कज्जावण्ण तय भावो ॥

16 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 73

णामादि भेदसद्दत्थबुद्धिपरिणामभावतो णियत ।
ज वत्थुमत्थि लोए चतुपज्जाय तय सव्व ॥

17 प्रवचनप्रवेश, 74

नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥

18 ऋजुसूत्र नय दो प्रकार का होता है शुद्ध और अशुद्ध । शुद्ध ऋजुसूत्र नय प्रत्युत्पन्न पर्याय को ग्रहण करता है। अशुद्ध ऋजुसूत्र नय अनेक क्षणवर्ती व्यजनपर्याय को ग्रहण करता है। अत द्रव्यनिक्षेप इसका विषय बन जाता है ।

अर्थ के नाम, रूप और विभिन्न पर्यायों को एक ही शब्द अभिहित करता है तब प्रकृत और अ-प्रकृत वाच्य का प्रश्न उपस्थित होता है। सिंह का चित्रांकन भी 'सिंह' शब्द के द्वारा अभिहित होता है और जीवित सिंह भी उसी शब्द के द्वारा अभिहित होता है। सिंह का मृत शरीर भी सिंह कहलाता है और सिंह शब्द सुनते ही 'सिंह-अर्थ' का बोध हो जाता है। इस प्रकार अर्थ की विभिन्न अवस्थाओं का शब्द में न्यास होता है। उस न्यास को विशेषण के द्वारा विशिष्ट कर प्रस्तुत का बोध कर लिया जाता है।[19]

ज्ञान और ध्यान एक ही यात्रा के दो पड़ाव हैं। चल-ज्ञान के द्वारा पदार्थ ज्ञेय बनता है और अचल-ज्ञान के द्वारा वह ध्येय बनता है। ध्यान की पद्धति में भी निक्षेप बहुत उपयोगी है। कोई व्यक्ति नाम का आलंबन लेकर ध्यान करता है तो कोई आकृति का आलंबन लेकर। कोई भूत भावी पर्यायों का आलंबन लेकर ध्यान करता है तो कोई वर्तमान पर्याय का आलंबन लेकर ध्यान करता है। इस प्रकार एक ही अर्थ की अनेक अवस्थाएं ध्येय बन जाती हैं।[20]

प्रतिकृति मूल अर्थ का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिए नैगमनय उस ज्ञानात्मक अर्थ का मूल द्रव्य के साथ अभेद मानता है। नाम वाच्य-अर्थ का बोध करता है इसलिए शब्दनय उस शब्दात्मक अर्थ का मूल अर्थ के साथ अभेद मानते हैं। भूत और भावी पर्याय का अर्थ में उपचार किया जाता है, इसलिए नैगम, संग्रह और व्यवहार नय मूल अर्थ के वर्तमान पर्याय के साथ उनका अभेद मानते हैं। शब्दनय अर्थ के वर्तमान पर्याय को वास्तविक मानते हैं। इस प्रकार अर्थ की विभिन्न अवस्थाओं की अभिव्यक्ति के लिए होने वाले स-विशेषण शब्द प्रयोग को नयों की मान्यता प्राप्त होती है। इस प्रक्रिया में संशय, विपर्यय और अनिश्चय की स्थिति को पार कर हम शब्द के माध्यम से वक्ता के विवक्षित अर्थ को जान लेते हैं।[21]

19 लघीयस्त्रय, 74, स्वोपज्ञविवृति

अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेप. फलवान्।

20 बृहद् नयचक्र, 270

दव्वं विविहसहावं, जेण सहावेण होइ तं झेयं।
तस्स णिमित्तं कीरइ, एक्कंपि य दव्व चउभेयं ॥

21, धवला, 1|1|9

संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितं तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेप। अथवा बाह्यार्थविकल्पो निक्षेप। अप्रकृतनिराकरणद्वारेण प्रकृतप्ररूपको वा।

1 एक नय का अभिप्राय दूसरे नय से भिन्न ही नही किन्तु विरोधी भी है। इस स्थिति मे हम किसे सत्य मानें ? एक को सत्य मानने पर दूसरे को असत्य मानना ही होगा। दोनो विरोधी मतो को सत्य माना नही जा सकता। क्या सत्य भी नयो के आधार पर बटा हुआ है ?

1 द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक होता है। उसका अन्वयी धर्म सामान्य और व्यतिरेकी धर्म विशेष कहलाता है। अन्वयी धर्म व्यतिरेकी धर्म से और व्यतिरेकी धर्म अन्वयी धर्म से सर्वथा भिन्न नही होता। इसलिए द्रव्य अन्वयी और व्यतिरेकी धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। अन्वयी धर्म ध्रुव होता है और व्यतिरेकी धर्म उत्पन्न एव नष्ट होता रहता है। प्रतिक्षण व्यतिरेकी धर्म उत्पन्न होता है। वह अपने से पूर्ववर्ती व्यतिरेकी धर्म का ध्वस होने पर ही उत्पन्न होता है। इसलिए पूर्ववर्ती व्यतिरेकी धर्म कारण और उत्पन्न होने वाला व्यतिरेकी धर्म कार्य कहलाता है। अन्वयी धर्म भी उसका कारण होता है। सहकारी सामग्री भी कार्य की उत्पत्ति मे निमित्त बनती है। यह वस्तु-स्थिति का निरूपण है। मनुष्य का समूचा चिन्तन या सत्य-बोध उक्त दो धर्मो (सामान्य और विशेष या अभेद और भेद या ध्रौव्य और पर्याय) के आधार पर होता है। नैगमनय सामान्याश्रित अभिप्राय है, इसलिए वह कारण मे कार्य का सद्भाव स्वीकार करता है अर्थात् वह सत्कार्यवाद को स्वीकृति देता है। अन्वयी धर्म के आधार पर इससे भिन्न चिन्तन नही हो सकता। अन्वयी धर्म जैसे द्रव्य की वास्तविकता है, वैसे ही व्यतिरेकी धर्म भी उसकी वास्तविकता है। ऋजुसूत्रनय विशेषाश्रित अभिप्राय है, इसलिए वह कार्य-कारणभाव को स्वीकार नही करता अर्थात् वह असत्कार्यवाद को स्वीकृति देता है। एक नय सत्कार्यवाद को स्वीकृति देता है और दूसरा असत्कार्यवाद को। यह उनकी स्वच्छन्द कल्पना नही है। वस्तु-जगत् मे ऐसा घटित होता है, इसीलिए ये दोनो वस्तु-आश्रित विकल्प है। अन्वयी धर्म भी वस्तु-आश्रित है और व्यतिरेकी धर्म भी वस्तु-आश्रित है। अन्वयी धर्म शाश्वत और व्यजन-पर्याय दीर्घकालीन होता है, इसलिए उनमे कार्य-कारणभाव घटित होता है। अर्थ-पर्याय क्षणवर्ती है, इसलिए उसमे कार्य-कारणभाव घटित नही होता। ये दोनो विकल्प दो भिन्न तथ्यो पर आधृत हैं और दोनो वास्तविकताए हैं। इसीलिए उन दोनो (वास्तविकताओ) को दो नय भिन्न-भिन्न रूप मे (जिसमे जैसा घटित है उसी रूप मे) जानते और प्रतिपादित करते हैं। नय ज्ञानात्मक हैं। उनका काम ज्ञेय का निर्माण करना नही किन्तु ज्ञेय को यथार्थरूप मे जानना और निरूपित करना है। सत्य नयो के आधार पर विभक्त नही है किन्तु नय वास्तविकताओ के आधार पर विभक्त है। निरपेक्ष नयवादी दर्शन या तो सामान्याश्रित विकल्प को सत्य मानते हैं या विशेषाश्रित विकल्प को सत्य मानते हैं। इसलिए कुछ दर्शन केवल सत्कार्यवादी हैं और कुछ केवल असत्कार्यवादी। जैन-दर्शन अन्वयी और व्यतिरेकी धर्मों की सापेक्षता के आधार पर उनसे फलित

होने वाले नयो को भी सापेक्ष मानता है। इसलिए वह सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनो को सापेक्षसत्य मानता है। इन दोनो मे प्रतीत होने वाले विरोध का वह सापेक्षता के आधार पर परिहार करता है। अन्वयी धर्म की अपेक्षा से सत्कार्यवाद वास्तविकता है और व्यतिरेकी धर्म की अपेक्षा से असत्कार्यवाद वास्तविकता है। दोनो वास्तविकताओ के दो आधार है और वे दोनो सापेक्ष हैं एक ही द्रव्य के अग है, अपनी-अपनी मर्यादाओ मे रहते हैं, इसलिए वे विरोधी नही हैं। जब दोनो तथ्य विरोधी नही हैं तब उनके आधार पर होने वाला विकल्प विरोधी कैसे हो सकता है? जहा विरोध की आशका हो वहा इस अपेक्षा को ध्यान मे लेना आवश्यक है कि यह विचार अन्वयी धर्माश्रित है और यह विचार व्यतिरेकी धर्माश्रित है। इस दृष्टिकोण से देखने पर विरोध की प्रतीति सहज ही निरस्त हो जाती है।

2 साख्य कूटस्थनित्यवादी है और बौद्ध क्षणिकवादी है। इस आधार पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो की योजना नही की गई। किन्तु द्रव्य ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय की समन्विति है—ध्रौव्य से उत्पाद-व्यय और उत्पाद-व्यय से ध्रौव्य स्वतत्ररूप मे कही भी प्राप्त नही होता, इस आधार पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो की योजना हुई है। वे इस तथ्य के बोधक हैं कि द्रव्य का ध्रौव्य अश नित्य है अपरिवर्तनशील है और उसका उत्पाद-व्यय अश अनित्य है परिवर्तनशील है। नयो के आधार पर द्रव्य की नित्यता और अनित्यता की स्थापना नही है किन्तु द्रव्य मे उपलब्ध नित्यत्व और अनित्यत्व धर्मो के आधार पर नयो की योजना की गई है।

3 अभेद और भेद द्रव्य के स्वगत धर्म है। द्रव्यार्थिक नय अभेद का बोधक है और पर्यायार्थिक नय भेद का। द्रव्य का जो सदृश-परिणाम-प्रवाहरूप-भेद एक शब्द का वाच्य बनकर व्यवहार्य होता है, वह द्रव्य का व्यजन-पर्याय है। जो भेद अतिम होने के कारण अविभाज्य या अविभाज्य जैसा प्रतीत होता है, वह द्रव्य का अर्थ-पर्याय है। द्रव्य व्यक्तिरूप मे एक और अखड होता है। अपने अर्थ-पर्यायो और व्यजन-पर्यायो से खडित होकर वह अनेक या अनन्त हो जाता है। एक पुरुष जन्म मे मृत्यु पर्यन्त 'पुरुष' शब्द के द्वारा ही वाच्य होता है। व्यजन-पर्याय की अपेक्षा से उस पुरुष मे द्रष्टा को सदा पुरुष की ही प्रतीति होती है। यह द्रव्य का अभेद है। उस पुरुष मे बाल, यौवन आदि अनेक भेद होते हैं। बाल्य अवस्था भी विभाज्य होती है, जैसे दूधमुहा बच्चा, तीन वर्ष का बच्चा आदि-आदि।

इस प्रकार व्यजन-पर्याय अभेद और भेद अर्थात् एकता और अनेकता — दोनो को प्रस्थापित करता है।

4 उपनिषदों में 'स एष नेति नेति' के द्वारा परमार्थ सत्ता को अनिर्वचनीय बतलाया गया है। आचारांग सूत्र में बतलाया गया है कि आत्मा अपद है, इसलिए वह किसी पद के द्वारा वाच्य नहीं है।[22] भगवान् बुद्ध ने भी आत्मा, परलोक आदि को अव्याकृत कहा है। द्रव्य के स्वभाव का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि यह अवाच्यता उसके एक धर्म से सापेक्ष है। दूसरे धर्म की दृष्टि से वह वाच्य भी है। अर्थ-पर्याय क्षणवर्ती और सूक्ष्म होने के कारण शब्द का विषय नहीं बनता। अत अर्थ-पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य अवाच्य है। व्यंजन-पर्याय दीर्घकालीन और स्थूल तथा सदृश-परिणाम-प्रवाह का जनक होने के कारण शब्द का विषय बनता है। अत व्यंजन-पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य वाच्य है।

इस चर्चा से यह समझा जा सकता है कि नयों की योजना का मूल आधार द्रव्य का मौलिक रूप और उसका पर्याय-समूह है। ये नय न तो दूसरों के मतों का संकलन हैं और न ऐच्छिक विकल्प।

2 क्या 'वन्ध्यापुत्र'—इसके लिए भी कोई नय है ?

'वन्ध्यापुत्र'—यह एक विकल्प है। कोई भी विकल्प अपेक्षाशून्य नहीं होता। असत् की हम कल्पना नहीं कर सकते। वन्ध्या असत् नहीं है और पुत्र भी असत् नहीं है। आकाश भी असत् नहीं है और कुसुम भी असत् नहीं है। ये योगज-विकल्प हैं। पुत्र एक सचाई है। उसकी अपेक्षा से 'वन्ध्यापुत्र' एक अभावात्मक विकल्प है। कुसुम एक सचाई है। उसके आधार पर 'आकाशकुसुम' एक अभावात्मक विकल्प है। वन्ध्या के पुत्र नहीं होता किन्तु वास्तव में यदि पुत्र नहीं होता तो 'वन्ध्यापुत्र'—यह विकल्प भी नहीं बनता। आकाश के कुसुम नहीं होता किन्तु कहीं भी यदि कुसुम नहीं होता तो 'आकाशकुसुम' यह विकल्प भी नहीं बनता। इसलिए ये भाव-सापेक्ष अभावात्मक विकल्प हैं। नैगम नय संकल्पग्राही होने के कारण इन उपचरित सत्यों की भी व्याख्या करता है।

22 आयारो 5।139

अपयस्स पय णत्थि।

5

स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय

स्याद्वाद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दो से निष्पन्न है। 'स्यात्' शब्द तिडन्त प्रतिरूपक निपात है। उसके 'अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहा उसका 'अनेकान्त' अर्थ विवक्षित है।[1] यह क्वचित् (देश) और कदाचित् (काल) के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है।[2] सभावना और सशय के अर्थ मे भी इसका प्रयोग मिलता है। स्याद्वाद मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग सशय के अर्थ मे नही है। यह अनेकान्त के अर्थ मे है और अनेकान्त अनन्त धर्मात्मक वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान है। इसलिए 'स्यात्' शब्द भी निश्चित अर्थ वाला है।[3] सभावना और सापेक्षता उसके साथ जुडे हुए है।

'स्यात्' शब्द का प्रयोग किये विना इष्ट धर्म की विधि और अनिष्ट धर्म का निषेध नही किया जा सकता, इसलिये पदार्थ का प्रतिपादन करने वाली प्रत्येक वाक्य-पद्धति के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[4] जहा उसका साक्षात् प्रयोग नही होता वहां वह गम्य होता है। वह दो अर्थों को सूचित करता है

1 विधिशून्य निषेध और निषेधशून्य विधि नही हो सकती।

2 अन्वयी धर्म (ध्रौव्य या सामान्य) और व्यतिरेकी धर्म (उत्पाद और व्यय या विशेष)- ये दोनो सापेक्ष हैं। ध्रौव्यविहीन उत्पाद-व्यय और उत्पाद-व्यय-विहीन ध्रौव्य कही भी उपलब्ध नही होता।

1 तत्त्वार्थवार्त्तिक, 4/42

स च लिडन्त (तिडन्त) प्रतिरूपको निपात । तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु वहुष्वर्थेषु सभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते ।

2 कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 370

सियासद्दो णिवायत्तादो जदि वि अणेगेसु अत्थेसु वट्टदे, तो वि एत्थ कत्थ वि काले देसे त्ति एदेसु अत्थेसु वट्टमाणो घेत्तव्वो ।

3 तत्त्वार्थवार्त्तिक, 1/6

स्याद्वादो निश्चितार्थ अपेक्षितयाथातथ्यवस्तुवादित्वात् ‥ ‥।

4 न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 2, पृष्ठ 694

स्यात्कारमन्तरेण इष्टानिष्टयोर्विधिनिषेधानुपपत्ते ।

वस्तु का स्वरूप सर्वात्मक नही है, इसलिए स्व-रूप से उसकी विधि और पर-रूप से उसका निषेध प्राप्त होता है।

उत्पाद और व्यय का क्रम चलता रहता है। इसलिए उत्पन्न पर्याय की अपेक्षा से वस्तु की विधि और अनुत्पन्न या विगत पर्याय की अपेक्षा से उसका निषेध किया जाता है।

पादरी निकोलस के अनुसार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा होने वाला वस्तु का सवेदन विधानात्मक होता है, निषेधात्मक नही होता। अनुमान विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनो होता है। स्याद्वाद का सिद्धान्त यह है कि विधि और निषेध वस्तुगत धर्म हैं। हम अग्नि का प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए उसकी विधि का अर्थ होता है कि अमुक देश मे अग्नि है। हम धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान करते हैं तब साधक-हेतु मिलने पर अमुक देश मे उसकी विधि और बाधक-हेतु मिलने पर उसका निषेध करते हैं किन्तु स्यद्वाद का विधि-निषेध वस्तु के देश-काल से सबद्ध नही है। वह उसके स्वरूप-निर्धारण से सबद्ध है। अग्नि जब कभी और जहा-कही भी होती है वह अपने स्वरूप से होती है, इसलिए उसकी विधि उसके घटको पर निर्भर है और उसका निषेध उन तत्त्वो पर निर्भर है जो उसके घटक नही हैं। वस्तु मे विधि और निषेध ये दोनो पर्याय एक साथ होते हैं। विधि-पर्याय होता है इसलिए वह अपने स्वरूप मे रहती है और निषेध-पर्याय होता है इसलिए उसका स्वरूप दूसरो से आक्रान्त नही होता। यही वस्तु का वस्तुत्व है।[5] इस स्वरूपगत विशेषता की सूचना 'स्यात्' शब्द देता है।

स्याद्वाद को 'विभज्यवाद'[6] और 'भजनावाद'[7] भी कहा जाता है। भगवान् महावीर ने कहा —मुनि विभज्यवाद का प्रयोग करें, तत्त्व-निरूपण मे जितने विकल्प सभव हो उन सब विकल्पो का प्रयोग करे, एकागी दृष्टि से तत्त्व का निरूपण न करे। महावीर स्वय भी अनेक प्रश्नो के उत्तर विभज्यवाद की पद्धति से देते थे। जयन्ती ने पूछा भते ! सोना अच्छा है या जागना अच्छा है।

महावीर ने कहा 'जयन्ती ! कुछ जीवो का सोना अच्छा है और कुछ जीवो का जागना अच्छा है।'

5 तत्त्वार्थवार्तिक, 1/6
स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।

6 सूयगडो, 1।14।22

7 कसायपाहुड, भाग, 1, पृष्ठ 281।

'भंते ! यह कैसे ?

'जो जीव अधर्मी हैं उनका सोना अच्छा और जो धर्मी हैं उनका जागना अच्छा है।'[8]

सोना ही अच्छा है या जागना ही अच्छा है यह एकांगी उत्तर होता। महावीर ने इस प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया, एकाङ्गी दृष्टि से नहीं दिया।

'द्रव्य से गुण अभिन्न हैं', यदि इस नियम को स्वीकृति दी जाए तो द्रव्य और गुण दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं। फिर 'द्रव्य मे गुण'--इस प्रकार की वाक्य-रचना नही की जा सकती।

द्रव्य से गुण भिन्न है, यदि इस नियम को स्वीकृति दी जाए तो 'यह गुण इस द्रव्य का है' इस प्रकार की वाक्य-रचना नही की जा सकती। भजनावाद के अनुसार अभेद और भेद का एकांगी नियम स्वीकृत नही होता। उसमे अभेद और भेद—दोनो की स्वीकृति होती है। द्रव्य और गुण का अभेद मानने पर उनमे विशेषण-विशेष्य-भाव नही हो सकता। यह आशका भजनावाद मे सापेक्ष दृष्टिकोण से समाहित हो जाती है। नील उत्पल—इस वाक्य मे 'उत्पल' विशेष्य और 'नील' विशेषण है। नील गुण उत्पल से अभिन्न है, फिर भी उनमे विशेष्य-विशेषणभाव है। 'दाढीवाला मनुष्य आ रहा है'—इस वाक्य-रचना मे 'मनुष्य' विशेष्य और 'दाढीवाला' विशेषण है। विशेषण विशेष्य से कथचित् पृथक्भूत होता ही है। इसलिए द्रव्य और गुण मे कथचित् भेदाभेद मानने मे विशेष्य-विशेषणभाव सबध बाधा उपस्थित नही करता।

विधेय प्रतिषेध्य से विरुद्ध नही है। यह स्याद्वाद की मर्यादा है। जो द्वन्द्व (युगल) विरोधी प्रतीत होते हैं, उनमे परस्पर अविनाभाव सबध है इस स्थापना के आधार पर अनेकान्त का सिद्धान्त अनन्त विरोधी युगलो को युगपत् रहने की स्वीकृति देता है। अनेकान्तात्मक अर्थ की प्रतिपादक वाक्य-पद्धति स्याद्वाद है। प्रस्तुत वाक्य-रचना मे विधि, निषेध आदि अनेक विकल्पो द्वारा वस्तुतत्त्व का नियमन किया जाता है। इस विषय को सप्तभगी के प्रयोग से समझा जा सकता है

स्यात् अस्ति एव घट   कथचिद् घट है ही।

स्यात् नास्ति एव घट   कथचिद् घट नही ही है।

स्यात् अस्ति एव घट स्यात् नास्ति एव घट—कथचिद् घट है ही और कथचिद् घट नही ही है।

स्यात् अवक्तव्य एव घट —कथचित् घट अवक्तव्य ही है।

8 भगवई, 12।53,54।

स्यात् अस्ति एव घट स्यात् अवक्तव्य एव घट कथचिद् घट है ही और कथचित् घट अवक्तव्य ही हैं।

स्यात् नास्ति एव घट स्यात् अवक्तव्य एव घट —कथचिद् घट नही ही है और कथचित् घट अवक्तव्य ही है।

स्यात् अस्ति एव घट स्यात् नास्ति एव घट स्यात् अवक्तव्य एव घट.

कथचिद घट है ही, कथचित घट नही ही है और कथचिद् घट अवक्तव्य ही है।

सप्तभगी की वाक्य-रचना मे 'स्यात्' शब्द अनेक धर्मात्मक घट के अस्तित्व धर्म का मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है और उसमे विद्यमान शेष धर्मों का गौण कर देता है, उनकी विवक्षा नही करता।

'एवकार' का प्रयोग विवक्षित धर्म के प्रति निश्चयात्मक दृष्टिकोण देता है। सामान्यत कहा जाता है कि स्याद्वाद मे 'ही' के स्थान से 'भी' का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु कुछ गहरे मे जाए तो यह बहुत अर्थवान् नही है। 'एवकार' (ही) का प्रयोग किए बिना विवक्षित धर्म का निश्चय ही नही हो सकता। यदि सापेक्षता न हो तो 'ही' का प्रयोग एकागी दृष्टिकोण बना देता है। किन्तु सापेक्षता सूचक स्यात्-शब्द का प्रयोग होने पर 'ही' का प्रयोग एकागी दृष्टिकोण नही देता, केवल विवक्षित धर्म की असदिग्धता जताता है।

'एवकार' के प्रयोग के तीन प्रयोजन होते हैं

1 अयोग का व्यवच्छेद असबध की निवृत्ति।

2 अन्ययोग का व्यवच्छेद दूसरे के सबध की निवृत्ति।

3 अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद –अत्यन्त असबध की निवृत्ति।

'शङ्ख पाण्डुर एव'—शख श्वेत ही है। इस वाक्य मे अयोग का व्यवच्छेद है। सद्भाव-विषयक शका की निवृत्ति के लिए विशेषण के साथ 'एवकार' का प्रयोग किया जाता है। किसी का प्रश्न हो कि शख श्वेत होता है या नही' तब उसके उत्तर मे यह कहा जाता है कि शख श्वेत ही होता है।

'पार्थ एव धनुर्धर.' अर्जुन ही धनुर्धारी है। इस वाक्य मे अन्ययोग का व्यवच्छेद है। अर्जुन के धनुर्धारी होने मे किसी को सशय नही है किन्तु अर्जुन जैसा कोई दूसरा धनुर्धारी है या नही—इस साधारण सद्भाव विषयक शका की निवृत्ति के लिए विशेष्य के साथ 'एवकार' का प्रयोग किया जाता है।

'नील कमलमस्त्येव' —नील कमल होता ही है। इस वाक्य मे अत्यन्त-अयोग का व्यवच्छेद है। पूर्ण सद्भाव की विधि तथा सर्वथा अयोग विषयक शका की निवृत्ति के लिए क्रिया के साथ 'एवकार' का प्रयोग किया जाता है।

'स्यात् अस्ति एव घट ' कथचिद् घट है ही। इस वाक्य मे 'घट' विशेष्य और 'अस्ति' विशेषण है। 'एवकार' विशेषण के साथ जुडकर घट के अस्तित्व धर्म का अवधारण करता है। यदि इस वाक्य मे 'स्यात्' का प्रयोग नही होता तो 'अस्तित्व- एकान्तवाद' का प्रसग आ जाता। वह इष्ट नही है। क्योकि घट मे केवल अस्तित्व धर्म नही है उसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उसमे हैं। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस आपत्ति को निरस्त कर देता है। 'एवकार' के द्वारा सीमित अर्थ को वह व्यापक बना देता है। विवक्षित धर्म का असदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्मो का सग्रहण इन दोनो की निष्पत्ति के लिए 'स्यात्कार' और 'एवकार' का समन्वित प्रयोग किया जाता है।

सप्तभगी के प्रथम भंग मे विधि की और दूसरे मे निषेध की कल्पना है। प्रथम भग मे विधि प्रधान है और दूसरे मे निषेध। शब्द के द्वारा विवक्षित धर्म प्रधान और जो गम्यमान होता है (शब्द द्वारा विवक्षित नही होता) वह गौण होता है।

वस्तु स्वरूपशून्य नही है इसलिए विधि की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है और वह सर्वात्मक नही है इसलिए निषेध की प्रधानता मे उसका प्रतिपादन किया जाता है। विधि जैसे वस्तु का धर्म है वैसे ही निषेध भी वस्तु का धर्म है। स्व-द्रव्य की अपेक्षा घट का अस्तित्व है। यह विधि है। पर द्रव्य की अपेक्षा घट का नास्तित्व है। यह निषेध है। इसका अर्थ हुआ कि निषेध आपेक्षिक पर्याय है—दूसरे के निमित्त से होने वाला पर्याय है। किन्तु वस्तुत. ऐसा नही है। निषेध की शक्ति द्रव्य मे निहित है। द्रव्य यदि अस्तित्वधर्मा हो और नास्तित्वधर्मा न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नही रख सकता। निषेध 'पर' की अपेक्षा से व्यवहृत होता है, इसलिए उसे आपेक्षिक या पर-निमित्तक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा-कवच का काम करता है, एक के अस्तित्व मे दूसरे को मिश्रित नही होने देता। 'स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट है' और 'पर-द्रव्य की अपेक्षा घट नही है' ये दोनो विकल्प इस सचाई को प्रगट करते हैं कि घट सापेक्ष है। वह सापेक्ष है इस-लिए यह नही कहा जा सकता कि जिस क्षण मे उसका अस्तित्व है, उस क्षण मे उसका नास्तित्व नही है। या जिस क्षण मे उसका नास्तित्व है, उस क्षण मे उसका अस्तित्व नही है। अस्तित्व और नास्तित्व (विधि और निषेध)—दोनो युगपत् है। किन्तु एक क्षण मे एक साथ दोनो का प्रतिपादन कर सके, ऐसा कोई शब्द नही है। इसलिए युगपत् दोनो धर्मो का बोध कराने के लिए अवक्तव्य भग का प्रयोग होता

है। इसका तात्पर्य यह है कि दोनो धर्म एक साथ हैं, किन्तु उनका कथन नही किया जा सकता।

अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य—ये तीन मूल भग है' शेष चार भग भग-रचना की गणितीय पद्धति से निष्पन्न होते हैं। आगमयुग मे तीन भगो का प्रयोग अधिक मिलता है। सात भगो का प्रयोग भी कुछ निरूपणो से फलित होता है।[9]

गौतम ने पूछा 'भते! द्विप्रदेशी स्कध आत्मा हैं, अनात्मा है या अवक्तव्य ?'

महावीर ने कहा गौतम! द्विप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है, स्यात् अनात्मा है और स्यात् अवक्तव्य है।'

गौतम—'भते! यह कैसे ?'

महावीर 'गौतम! स्व की अपेक्षा वह आत्मा है, पर की अपेक्षा वह अनात्मा है और दोनो की अपेक्षा वह अवक्तव्य है।'

प्रश्न की इस शृ खला मे चार भग और फलित होते है

1 द्विप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नही है।
2 द्विप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है, स्यात् अवक्तव्य है।
3 द्विप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा नही है, स्यात् अवक्तव्य है।
सातवा भग त्रिप्रदेशी स्कध से फलित होता है
4 त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नही है, स्यात् अवक्तव्य है।

वस्तु भावाभावात्मक है। उस भावाभाव धर्म के आधार पर उक्त सप्तभगी की रचना हुई है। वह सामान्य-विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक, वाच्यावाच्यात्मक भी है। इनमे से प्रत्येक युगल की सप्तभगिया वनती है। उदाहरणस्वरूप प्रत्येक के तीन-तीन भग प्रस्तुत हैं

1	स्यात् सदृश एव घट -	कथचित् घट सदृश ही है।
	स्यात् विसदृश एव घट	कथचित् घट विसदृश ही है।
	स्यात् अवक्तव्य एव घट.	कथचित् घट अवक्तव्य ही है।
2	स्यात् नित्य एव घट	कथचित् घट नित्य ही है।
	स्यात् अनित्य एव घट	कथचित् घट अनित्य ही है।
	स्यात् अवक्तव्य एव घट	कथचित् घट अवक्तव्य ही है।

9 भगवई 12।219।

3 स्यात् वाच्य एव घट. – कथंचित् घट वाच्य ही है।
स्यात् अवाच्य एव घट कथंचित् घट अवाच्य ही है।
स्यात् अवक्तव्य एव घट — कथंचित् घट अवक्तव्य ही है।

वस्तु मे जितने धर्म होते हैं उतनी ही सप्तभंगिया होती हैं। नित्य अनित्य का और अनित्य नित्य का विरोधी है, फिर एक ही घट नित्य और अनित्य दोनो कैसे हो सकता है ? इस विरोध मे सापेक्षता के द्वारा समन्वय स्थापित किया जाता है।

ईसा पूर्व छठी-पाचवी शताब्दी मे होने वाले हेरेक्लाइटस (Heraclitus) ने विरोध को समन्वय का जनक माना है। उनके अनुसार 'जब धनुष से बाण चलाया जाता है तो चलाने वाले के दोनो हाथ विरोधी दिशाओ मे खिचते हैं, किन्तु लक्ष्य उनका एक ही है। वीणा के तार भिन्न-भिन्न रीति से खीचे जाते हैं और तब भी विभिन्न स्वर एक ही राग को उत्पन्न करते हैं। अत विरोध समन्वय का जनक है।[10] वे क्षण-भगवादी थे इसलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील होने के कारण सापेक्ष है। क्योंकि क्षणिकवस्तु का सापेक्ष होना अनिवार्य है। हम हैं भी और नहीं भी हैं। हम सत् भी हैं और असत् भी हैं और सत्-असत्-अनिवर्चनीय भी। जितने भी द्वन्द्व हैं सब सापेक्ष हैं।

हेरेक्लाइटस का सापेक्षवाद क्षणिकवाद पर आधृत है। जैन दर्शन के सापेक्षवाद का स्वरूप इससे भिन्न है। उनके अनुसार क्षणिकता अक्षणिकता की अपेक्षा रखती है और अक्षणिकता क्षणिकता की अपेक्षा रखती है। उन दोनो का योग ही वस्तु का स्वरूप बनता है। केवल परिवर्तन या क्षणिकता का दृष्टिकोण एकांगी है। उसके आधार पर सापेक्षता का सिद्धान्त स्थापित नही किया जा सकता। दो विरोधी धर्मों की युगपत् सत्ता मे ही सापेक्षता के सिद्धान्त की स्थापना की जा सकती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने गोपी के दृष्टान्त द्वारा सापेक्षता को समझाया है। जैसे गोपी विलोना करते समय दाए हाथ को पीछे ले जाती है और बाए हाथ को आगे लाती है, फिर बाए हाथ को पीछे ले जाती है और दाए हाथ को आगे लाती है, इस क्रम में उसे नवनीत मिलता है। स्याद्वाद भी इसी प्रकार प्रधान धर्म को आगे लाता है और गौण धर्म को पीछे ले जाता है। फिर गौण धर्म को प्रधान बनाकर आगे लाता है और प्रधान धर्म को गौण बनाकर पीछे ले जाता है। विरोधी दिशा मे जाने वाले उन प्रधान और गौण धर्मों मे सापेक्षता होती है।[11]

10 पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ 5, 6।

11 पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 225

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

स्याद्‌वाद के फलित

1 तार्किक जगत् मे कार्य-कारण का सिद्धान्त सार्वभौम माना जाता है, किन्तु स्याद्‌वाद के अनुसार यह सार्वभौम नियम नही है। कार्य-कारण का नियम स्थूल जगत् मे घटित होता है। सूक्ष्म जगत् का अपना स्वतत्र नियम है। कर्म-शास्त्रीय भाषा मे कर्म के विपाक या विलय से जो घटित होता है उसमे कार्य-कारण का नियम खोजा जा सकता है। स्थूल परमाणु-स्कधो के परिवर्तन मे भी कार्य-कारण का नियम लागू होता है। स्वाभाविक परिवर्तन (पारिणामिक भाव) मे कार्य-कारण का नियम लागू नही होता। एक काले वर्ण का परमाणु निश्चित अवधि के बाद दूसरे वर्ण का हो जाता है। प्रश्न हो सकता है कि उसके वर्ण-परिवर्तन का कारण क्या है? कोई कारण नही है। उसके परिवर्तन के हेतु की व्याख्या नही की जा सकती। यह उस परमाणु का स्वगत नियम है। वस्तु का अर्थ-पर्याय (एक क्षणवर्ती पर्याय) कार्य-कारण के नियम से मुक्त होता है। द्रव्य को प्रत्येक क्षण मे बदलना पडता है। वर्तमान क्षण का अस्तित्व दूसरे क्षण मे तभी सुरक्षित रहता है जब वह दूसरे क्षण के अनुरूप अपने आपको ढाल लेता है। अर्थ-पर्याय को अभिव्यक्ति देने वाला एक प्रसिद्ध श्लोक है

'अनादिनिधने द्रव्ये, स्वपर्याया प्रतिक्षणम्।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते, जलकल्लोलवज्जले ॥

द्रव्य अनादि और अनन्त है। उसमे प्रतिक्षण स्व-पर्याय वैसे ही उत्पन्न और विलीन होते रहते है जैसे जल मे तरगें।

कार्य-कारण के विषय मे नयदृष्टि की मीमासा इस प्रकार है

* नैगम, सग्रह, व्यवहार और व्यजनपर्यायग्राही ऋजुसूत्र—ये चार नय कार्य-कारण के सिद्धान्त को स्वीकृति देते हैं।
* शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये तीन नय कार्य-कारण के सिद्धान्त को मान्य नही करते। इनके अनुसार कार्य अपने स्वरूप से उत्पन्न होता है। उसकी किसी दूसरे से उत्पत्ति मानना सगत नही है। जो अपने स्वरूप से उत्पन्न हो चुका है, उसकी दूसरे से उत्पत्ति मानने का कोई अर्थ नही होता। कारण यदि कार्य से अभिन्न हो तो फिर कार्य और कारण का सबध ही नही होता। इसलिए कार्य अपने स्वाभाविक परिणमन से ही उत्पन्न होता है, किसी दूसरे कारण से नही।[12]

12 कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 319

एद णेगम-सगह-ववहार-उजुसुदाण, तत्थ कज्जकारणभावसभवादो। तिण्ह सद्दणयाण ण केण वि कसाओ, तत्थ कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीए। अहवा ओदइएण भावेण कसाओ। एद णेगमादिचउण्ह णयाण। तिण्ह सद्दणयाण पारिणामिएण भावेण कसाओ। कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीदो।

2 शुद्ध द्रव्यार्थिक नय पर्याय को स्वीकार नही करते । अत उनके अनुसार काल के भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीन विभाग नही होते, केवल वर्तमान काल ही होता है ।[13] तीनो शब्दनय पर्याय को स्वीकृति देते हैं, इसलिए वे काल के तीन विभाग मान्य करते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य का अपरिणामी अश काल-विभाग की अपेक्षा नही रखता । अर्थ-पर्याय क्षणवर्ती होता है, इसलिए उसे भी काल-विभाग की अपेक्षा नही होती । व्यजन-पर्याय दीर्घकालीन होता है । अत उसे काल-विभाग की अपेक्षा होती है ।

3 द्रव्य मे क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती दोनो प्रकार के धर्म पाए जाते हैं । वह वर्तमान मे विवक्षित स्वरूप से है, अन्य काल मे उस स्वरूप से नही होता । उसमे जैसे कालभेद से स्वरूप-भेद होता है वैसे ही साधन आदि से भी स्वरूप-भेद होता है । इस आधार पर प्रकारान्तर से स्याद्वाद के सात भंग बनते हैं [14]

(i) एक द्रव्य है ।
(ii) वह किसी एक स्वरूप से है ।
(iii) उसकी उत्पत्ति का कोई एक साधन भी है ।
(iv) उसका एक अपादान भी है ।
(v) उसका किसी से सबध भी है ।
(vi) उसका कोई एक अधिकरण भी है ।
(vii) उसका कोई एक काल भी है ।

क्रमवर्ती पर्यायो मे वर्तमान पर्याय निश्चित होता है, किन्तु आने वाले पर्याय की सभावना और अनिश्चितता के लिए कोई नियम नही बनाया जा सकता अमुक पर्याय के बाद अमुक पर्याय ही होगा, ऐसी निश्चित भविष्यवाणी नही की जा सकती। इस सदर्भ मे हाइजनबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धान्त (Principle of Uncertainty) का मूल्याकन किया जा सकता है ।

4 स्याद्वाद के द्वारा दूर-निकट, छोटा-बडा आदि आपेक्षिक पर्यायो की ही व्याख्या नही की जाती, किन्तु द्रव्य के स्वाभाविक पर्यायो की भी उससे व्याख्या की जा सकती है । नित्यता और अनित्यता स्वाभाविक पर्याय है । स्थूल जगत् मे

13 कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 260
अप्पहाणीकयपरिणामेसु सुद्धदव्वट्ठिएसु णएसु णादीदाणागयवट्टमाणकालविभागो अत्थि ।

14 कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 309 (जयधवला मे उद्धृत)
कथञ्चित् केनचित् कश्चित् कुतश्चित् कस्यचित् क्वचित् ।
कदाचिच्चेति पर्यायात् स्याद्वाद. सप्तभङ्गभृत् ॥

इन दोनों में विरोध की प्रतीति होती है। स्वभाव में विरोध नहीं होता, इसलिए सापेक्षता के द्वारा इनके विरोध का परिहार किया जाता है।

5 स्याद्वाद के सदर्भ मे वैज्ञानिक सापेक्षवाद का अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

कुछ सांख्यिकी विशेषज्ञो ने स्याद्वाद की सप्तभगी को सांख्यिकी (statistics) सिद्धान्त के आधारस्रूप मे प्रस्तुत किया है। इस विषय मे प्रो० P C Mahalanobis का लेख बहुत माननीय है। उसका कुछ अश इस प्रकार है

I should now like to make some brief observations of my own on the connexion between Indian-Jaina views and the foundations of statistical theory I have already pointed out that the fourth category of syadvada, namely, avaktavya or the "indeterminate" is a synthesis of three earlier categories of (1) assertion ("it is"), (2) negation ("it is not"), and (3) assertion and negation in succession The fourth category of syadvada, therefore, seems to me to be in essence the Qualitative (but not quantitative) aspect of the modern concept of probability Used in a purely qualiative sense, the fourth category of predication in Jaina logic corresponds precisely to the meaning of probability which covers the possibility of (a) something existing, (b) something not-existing, and (c) sometimes existing and sometimes not-existing The difference between Jaina "avaktavya" and "probability" lies in the fact that the latter (that is, the concept of probability) has definite quantitative implications namely, the recognition of numerical frequencies of occurrence of (1) "it is", or (2) "it is not", and hence in the recognition of relative numerical frequencies of the first two categories (of "it is" and "it is not") in a synthetic form It is the explicit recogition of (and emphasis on) the concept of numerical frequency ratios which distinguishes modern statistical theory from the Jaina theory of a syadvada At the same time it is of interst to note that 1500 or 2500 years ago syadvada seems to have given the logical background of statistical theory in a qualitative form

Secondly, I should like to draw attention to the Jaina view that "a real is a particular which possesses a generic attribute" This is very close to the concept of an individual in relation to the population to which it belongs The Jaina view in fact denies the possibility of making any predication about a single and unique individual which would be also true in modern statistical theory

The third point to be noted is the emphasis given in Jaina philosophy on the relatedness of things and on the multiform aspects of reals which appear to be similar (again in a purely qualitative sense) to the basic ideas underlying the concepts of association, correlation and concomitant variation in modern statistics

The Jaina views of "existence, persistence, and cessation" as the fundamental characteristics of all that is real necessarily leads to a view of reality as something relatively permanent and relatively changing which has a flavour of statistical reasoning "A real changes every moment and at the same time continues" is a view which is somewhat sympathetic to the underlying idea of stochastic processes

Fifthly, a most important feature of Jaina logic is its insistence on the impossibility of absolutely certain predication and its emphasis on non-absolutist and relativist predication In syadvada the qualification "syat" that it, "may be or perhaps" must be attached to every predication without any exception All predication, according to syadvada, thus has a margin of uncertainty which is somewhat similar to the concept of 'uncertain inference" in modern statistical theory The Jaina view, however, is essentially qualitative in this matter (while the great characteristic of modern statistical theory is its insistence of the possibility and significance of determining the margin of uncertainty in a meaningful way) The rejection of absolutely certain predication naturally leads Jaina philosophy continually to emphasize the inadequacy of "pure" or "formal" logic, and hence to stress the need of making inferences on the basis of data supplied by experience

I should also like to point out that the Jaina view of causality as "a relation of determination" bases on the observation of "concomitance in agreement and in difference" has dual reference to an internal condition "in the developed state of our mind" which would seem to correspond to the state of organized knowledge in any given context and also to an external condition based on "the repeated observation of the sequence of the two events" which is suggestive of a statistical approach

Finally, I should draw attention to the realist and pluralist views of Jaina philosophy and the continuing emphasis on the

multiform and infinitely diversified aspects of reality which amounts to the acceptance of an "open" view of the universe with scope for unending change and discovery For reasons explained above, it seems to me that the ancient Indian Jaina philosophy has certain interesting resemblances to the probabilistic and statistical view of reality in monern times [1]

1 'स्यात्' का अर्थ अपेक्षा कैसे ? क्या यह विधिलिङ्ग का प्रयोग नही है ?

'अस्तिवीरा वसुन्धरा' मे 'अस्ति' जैसे निपात् है वैसे ही स्याद्वाद मे 'स्यात्' शब्द निपात है। यह विधिलिङ्ग का प्रयोग नही है। यह अनेक अर्थों का द्योतक है। उनमे एक अर्थ अपेक्षा भी है।

2 चेतन भी अनन्तधर्मा और अचेतन भी अनन्तधर्मा, फिर दोनो मे अन्तर क्या है ? 'सर्वं सर्वात्मक' तो हो ही गया।

धर्म दो प्रकार के होते हैं सामान्य और विशेष। विशेष धर्म के द्वारा द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित होता है। चैतन्य एक विशेष धर्म है। वह चेतन मे ही है, अचेतन मे नही है। चैतन्य की अपेक्षा से चेतन और अचेतन मे अत्यन्ताभाव है। इसलिए चेतन अचेतन से और अचेतन चेतन से स्वतन्त्र द्रव्य है। जो द्रव्य है वह अनन्तधर्मा है, फिर भी अपनी असाधारणतया के कारण उसमे 'सर्वं सर्वात्मक' के दोष का प्रसग नही है।

चेतन मे चैतन्य की सत्ता स्वाभाविक है पर-निरपेक्ष हैं। पुद्गल (अचेतन) मे वर्ण, गध, रस और स्पर्श ये स्वाभाविक गुण हैं—पर-निरपेक्ष हैं। चेतन और पुद्गल के सयोग से होने वाले जितने धर्म या व्यजन-पर्याय हैं, वे सब पर-सापेक्ष हैं। पर-निरपेक्ष और पर-सापेक्ष ये दोनो पर्याय सयुक्त होकर द्रव्य को अनन्तधर्मा बनाते हैं।

3 नैयायिक आदि भी अवच्छेदक धर्म के द्वारा वस्तु के स्वरूप निश्चित करते हैं और स्याद्वाद की प्रक्रिया मे भी विशेष धर्म के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निश्चय किया जाता है। तो फिर दोनो मे अन्तर क्या है ? दोनो मे निरपेक्षता सिद्ध होती है। स्याद्वाद मे सापेक्षता होनी चाहिए।

'स्यात् अस्त्येव जीव.'—चैतन्य धर्म की अपेक्षा से जीव है। इस वाक्य मे चैतन्य का अस्तित्व प्रदर्शित है, वही जीव का स्वरूप नही है, किन्तु नास्तित्व भी उसका स्वरूप है। प्रश्न हो सकता है कि यदि पराश्रित नास्तित्व जीव का स्वरूप

1 पी सी महलनोबिस का पूरा लेख The foundations of Statistics डाइलेक्टिका, भाग 8, न 2, 15 जून 1954 स्वीट्जरलैण्ड मे प्रकाशित है।

हो तो अजीव मे जो रूप आदि हैं उसे भी जीव का स्वरूप मानना होगा। इसका उत्तर स्पष्ट है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों वस्तु के स्वरूप हैं, यह प्रमाण-सिद्ध है। धूम और अग्नि एक अधिकरण मे रहते हैं। अस्तित्व नास्तित्व का अविनाभावी है यह सिद्ध करना ही स्याद्वाद का अपेक्षावाद है।

स्याद्वाद द्रव्य के स्वरूप का निर्माण नहीं करता। उसका स्वरूप स्वभाव मे है। वह क्यो है, इसकी कोई व्याख्या नही की जा सकती। जो स्वरूप है उसकी व्याख्या करना स्याद्वाद का काम है। जैन दर्शन ने पाच विशिष्ट गुण मान्य किए हैं। उनके आधार पर पाच द्रव्यो की स्वीकृति है

	गुण		द्रव्य
1	गति		धर्मास्तिकाय
2	स्थिति		अधर्मास्तिकाय
3	अवकाश	—	आकाशास्तिकाय
4	वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श		पुद्गलास्तिकाय
5	चैतन्य		जीवास्तिकाय

इन पाच गुणो के अतिरिक्त शेष सब गुण सामान्य है। सामान्य और विशेष गुणो की व्याख्या स्याद्वाद की पद्धति से की जाती है।

4 आपने कहा कि द्रव्य के प्रत्येक धर्म मे सप्तभगी की योजना की जा सकती सकती है। क्या अनेकान्त मे भी सप्तभगी की योजना की जा सकती है ? यदि की जा सकती है तो उसका निषेधात्मक भग एकान्त भी होगा। इस प्रकार अनेकान्त की व्यवस्था सार्वत्रिक नही हो सकती।

आचार्य समन्तभद्र ने अनेकान्त की व्याख्या अनेकान्तदृष्टि से की है। अखंड वस्तु के बोध और प्रतिपादन के लिए जहा स्याद्वाद प्रमाण का उपयोग किया जाता है वहा अनेकान्त अपेक्षित है। और उसके एक धर्म के बोध और प्रतिपादन के लिए नय का उपयोग किया जाता है वहा एकान्त भी अपेक्षित है। अनेकान्तवादी को अनेकान्त और एकान्त—दोनो मान्य हैं। इसलिए अनेकान्त की सप्तभगी हो सकती है—

1 स्यात् एकान्त कथचित् एकान्त है।
2 स्यात् अनेकान्त कथचित् अनेकान्त है।
3 स्यात् उभय कथचित दोनो है।
4 स्यात् अवक्तव्य कथचित् अवक्तव्य है।
5 स्यात् एकान्तश्च अवक्तव्यश्च कथचित् एकान्त है और अवक्तव्य है।
6 स्यात् अनेकान्तश्च अवक्तव्यश्च कथचित् अनेकान्त है और अवक्तव्य है।

7 स्यात् एकान्तश्च अनेकान्तश्च अवक्तव्यश्च कथंचित् एकान्त है। अनेकान्त है और अवक्तव्य है।

हमारा एकान्त से विरोध नही है। उस एकान्त को हम अस्वीकार करते हैं जो मिथ्या है दूसरे नय के मत का खडन करता है। इस आधार पर एकान्त के दो भेद होते हैं--सम्यग् एकान्त और मिथ्या एकान्त। सम्यग् एकान्त नय है और मिथ्या एकान्त दुर्नय। अनेकान्त से हमारा कोई गठबधन नही है। हम उस अनेकान्त को भी स्वीकार नही करते जो एक वस्तु मे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से विरुद्ध अनेक धर्मों की कल्पना करता है। इस आधार पर अनेकान्त के भी दो भेद होते हैं सम्यग् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। सम्यग् अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास है।[15]

सम्यग् अनेकान्त सार्वत्रिक होता है। आचार्य अकलक ने जीव द्रव्य मे भी सप्तभगी की योजना की हैं

स्यात् जीव कथचित् जीव है।

स्यात् अजीव —कथचित जीव नही हैं।

चैतन्य-व्यापार की दृष्टि से जीव चेतनात्मक है। प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा से जीव चेतनात्मक नही हैं। इस प्रकार प्रमाण से अविरुद्ध जितने भी धर्म हैं, वे सब अनेकान्त के विषय बनते हैं।[16]

15 तत्त्वार्थवार्तिक 1।6

अनेकान्तोऽपि द्विविध सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्ष प्रमाण प्ररूपितार्थैकदेशादेश। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्त। एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्ध सम्यगनेकान्त। तदतत्स्वभाववस्तुशून्य परिकल्पितानेकात्मक केवल वाग्विज्ञान मिथ्याऽनेकान्त तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्त प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्।

16 सप्तभगीतरगिणी, पृष्ठ 79

एवमय स्याज्जीव इति मूलभङ्गद्वयम्। तत्रोपयोगात्मना जीव, प्रमेयत्वाद्यात्मनाऽजीव इति तदर्थ। तदुक्त भट्टाकलकदेवै

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मक।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाऽचेतनात्मक ।।इति।

अजीवत्व च प्रकृतेऽजीववृत्तिप्रमेयत्वादि धर्मवत्त्वम्, जीवत्व च ज्ञानदर्शनादिमत्त्वमिति द्रष्टव्यम्।

5 क्या सापेक्ष की भी सप्तभगी हो सकती है ? यदि हो सकती है तो निरपेक्ष सत्य की स्वीकृति सहज ही हो जाती है ।

वस्तु कथचित् सापेक्ष है और वह कथचित् निरपेक्ष है । ये दोनो भग मान्य हो सकते हैं । अर्थ-पर्याय या स्वाभाविक पर्याय की दृष्टि से वस्तु निरपेक्ष होती है । अर्थ-पर्याय की दृष्टि से आकाश आकाश है । आपेक्षिक और वैभाविक पर्यायो की दृष्टि से वस्तु सापेक्ष होती है । सापेक्ष दृष्टि से आकाश घटाकाश, पटाकाश आदि अनेक रूपो मे प्राप्त होता है । जितने व्यजन-पर्याय हैं वे सब सापेक्ष ही होते हैं । इस विश्व-व्यवस्था मे कोई एक तत्त्व ऐसा नही है जिसे हम निरपेक्ष कह सकें । किन्तु प्रत्येक द्रव्य निरपेक्ष और सापेक्ष की समन्विति है । निरपेक्षता और सापेक्षता को सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता । उनका पार्थक्य भी अपेक्षा से ही होता है अर्थ-पर्याय की दृष्टि से निरपेक्षता और व्यजन-पर्याय की दृष्टि से सापेक्षता है ।

□ □ □

: 6 :

प्रमाण व्यवस्था

आचार्य सिद्धसेन ने ईसा की 3–5 शताब्दी मे जैन परम्परा मे प्रमाण-व्यवस्था का सूत्रपात किया। इससे पूर्व प्रमाणशास्त्र का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नही होता। ज्ञान-मीमासा विषयक प्रचुर वाड्मय उपलब्ध था। किन्तु दूसरे दर्शनो के सदर्भ मे जिस प्रमाण-व्यवस्था और प्रमाणशास्त्रीय परिभाषा की अपेक्षा थी उसकी पूर्ति का प्रथम प्रयत्न आचार्य सिद्धसेन ने किया। प्रमाण-व्यवस्था के विकास का श्रेय आचार्य अकलक को है। उन्हें जैन परम्परा मे प्रमाण-व्यवस्था के विकास का पुरस्कर्त्ता कहा जा सकता है। ईसा की आठवी शताब्दी मे दो महान् आचार्य हुए हैं हरिभद्र और अकलक। हरिभद्र का जन्म-स्थल और कर्मक्षेत्र राजस्थान प्रदेश रहा और अकलक का दक्षिणाचल। हरिभद्र ने अनेकान्त और समन्वय के सूत्रधार के रूप मे और गौण रूप मे प्रमाणशास्त्र के क्षेत्र मे भी कार्य किया। अकलक का मुख्य कर्तृत्व प्रमाणशास्त्र के क्षेत्र मे प्रस्फुटित हुआ। उन्होंने लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाण-सग्रह आदि ग्रन्थो के माध्यम से प्रमाण-व्यवस्था की सुदृढ आधारशिला रखी। उसके आधार पर वर्तमान शती तक प्रमाण के प्रासाद खडे होते रहे हैं।

बौद्ध, नैयायिक, साख्य और वैशेषिक दर्शन अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार प्रमाणशास्त्रीय ग्रन्थ निर्मित कर चुके थे और तद्विषयक परिभाषाए निर्मित कर रहे थे। अकलक आदि आचार्यों ने अपनी परिभाषाओ का निर्माण उनके पश्चात् किया। इसलिए उन्होने अपनी परम्परा के साथ-साथ दूसरी परम्पराओ का भी उपयोग किया। फलत वे अधिक परिष्कृत और परिमार्जित परिभाषाए प्रस्तुत कर सके।

प्रमाण की परिभाषा

बौद्ध न्याय के महान् आचार्य धर्मकीर्त्ति ने प्रमाण की यह परिभाषा की है अविसवादी ज्ञान प्रमाण है।[1] नैयायिको ने प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार की—जो

1 प्रमाणवार्त्तिक, 3

प्रमाणमविसवादि ज्ञान अर्थक्रियास्थिति ।
अविसवादन शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥

अर्थोपलब्धि का हेतु है वह प्रमाण है।[2] बौद्धो ने ज्ञान को प्रमाण माना। नैयायिको ने ज्ञान की सहायक सामग्री को भी प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया। जैन तार्किको को यह इष्ट नही था। वे ज्ञान को प्रमाण मानने के पक्ष मे थे। आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण की परिभाषा यह निश्चित की—जो स्व-पर-प्रकाशी और बाधवर्जित ज्ञान है वह प्रमाण है।[3] जिसके द्वारा अर्थ का ज्ञान हो वह प्रमाण है अर्थात् प्रमा का साधकतम करण प्रमाण है। इस परिभाषा मे मतद्वैत न होने पर भी साधकतम करण के विषय मे मतैक्य नही था। नैयायिक प्रमा मे साधकतम करण इन्द्रिय और सन्निकर्ष को मानते हैं। जैन और बौद्ध सन्निकर्ष को साधकतम करण नही मानते किन्तु ज्ञान को ही साधकतम करण मानते हैं। इस दृष्टि से प्रमाण की परिभाषा मे 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक हुआ।

संशयज्ञान और विपर्ययज्ञान ज्ञान होने पर भी प्रमाण नही होता। इस दृष्टि से प्रमाण के लक्षण मे 'बाधविवर्जित' विशेषण का प्रयोग किया गया। यह विशेषण 'सम्यग्' पद का प्रतिनिधित्व करता है। ज्ञान-मीमासा मे ज्ञान और अज्ञान—ये दो शब्द व्यवहृत हैं। संशय और विपर्यय अज्ञान की कोटि मे हैं, इसलिए 'ज्ञान प्रमाण हैं' इतना ही कहना पर्याप्त होता। उमास्वाति ने ज्ञान को ही प्रमाण कहा है।[4] ज्ञान सम्यक् और निर्णायक ही होता है। मिथ्या और अनिर्णायक जो होता है, वह ज्ञान नही होता, अज्ञान होता है। इस परिभाषा को अन्य-दर्शन-सुलभ करने के लिए 'बाधविवर्जितम्' विशेषण का चुनाव किया गया प्रतीत होता है।

ज्ञान अर्थ को प्रकाशित करता है। यदि वह स्व-प्रकाशी न हो तो अर्थ को प्रकाशित नही कर सकता। वह स्व-प्रकाशी और अर्थ-प्रकाशी—दोनो है। इस आशय को स्पष्ट करने के लिए 'स्वपराभासि' विशेषण का प्रयोग किया गया।

आचार्य अकलक ने उक्त परिभाषा मे कुछ परिष्कार किया और कुछ नया जोडा। प्रमाण के लक्षण मे आए हुए 'बाधविवर्जितम्' के स्थान पर 'अविसवादि' विशेषण का प्रयोग किया। संशय और विपर्यय अविसवादी ज्ञान नही होते। इसलिए वे अप्रमाण हैं। प्रमाण वही ज्ञान होता है जो अविसवादी हो। दूसरा विशेषण है कि वह अज्ञात अर्थ को जानने वाला हो।[5] स्मृति के प्रामाण्य का समर्थन

2 न्यायवार्त्तिक,
अर्थोपलब्धिहेतु प्रमाणम्।

3 न्यायावतार, 1
प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम।

4 तत्त्वार्थ, 1/9,10।

5 अष्टशती,
प्रमाणमविसवादि ज्ञानमनधिगतार्थलक्षणत्वात्।

करते हुए भी प्रस्तुत विशेषण का प्रयोग सार्थक प्रतीत नही होता । किन्तु पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचार करने पर इसकी सार्थकता समझ मे आ जाती है द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से ज्ञात अर्थ को जानने वाला या धारावाही ज्ञान प्रमाण है। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से प्रतिक्षण परिवर्तनशील अर्थ अज्ञात ही होता है। इसलिए हम ज्ञात को नही जानते किन्तु अज्ञात को ही जानते हैं। 'अनधिगत' विशेषण उसी अर्थ को व्यक्त करता है। बौद्ध न्याय मे प्रमाण के लक्षण मे ज्ञान का 'अनधिगतार्थाधिगम' विशेषण मिलता है। आचार्य अकलक ने उक्त विशेषण के प्रयोग मे बौद्धो का अनुसरण किया है। इस अनुसरण का अभिप्राय है—बौद्ध सम्मत एकान्तिक अभिप्राय को अनेकान्त के द्वारा परिमार्जित कर प्रस्तुत करना। नय दृष्टि के अनुसार 'अनधिगत' का अर्थ सर्वथा अज्ञात नही किन्तु सापेक्ष-अज्ञात है। इसलिए बौद्धो द्वारा किया जाने वाला स्मृति के प्रामाण्य का निरसन उचित नही है।

माणिक्यनन्दि (ई० 993–1053) ने 'अनधिगत' के आधार पर 'अपूर्व' शब्द का प्रयोग किया।[6] उत्तरवर्ती परम्परा मे यह विशेषण बहुत समादृत नही हुआ।

मीमासक ज्ञान को परोक्ष मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान अर्थ को जानता है, स्वय को नही जानता। वह अनुमेय है। अर्थबोध हो रहा है। यह जिससे हो रहा है, वह ज्ञान है। अर्थबोध के द्वारा ज्ञान अनुमेय है। नैयायिक ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं। उनके अनुसार मनुष्य का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान से प्रकाशित है। स्व-सविदित ज्ञान ईश्वर का ही हो सकता है। साख्य ज्ञान को अचेतन मानते हैं। जैन परम्परा का अभिप्राय इन सबसे भिन्न है। उसके अनुसार ज्ञान स्वय प्रकाशित होकर ही दूसरे को प्रकाशित कर सकता है। जो स्व-प्रकाशी नही होता, वह पर-प्रकाशी नही हो सकता। 'स्व' का अर्थ ज्ञान और 'पर' का अर्थ ज्ञान से भिन्न पदार्थ है।[7] ज्ञान-काल मे ज्ञान अपनी ओर उन्मुख होता है, इसलिए वह स्व-प्रकाशी है और बाह्य पदार्थ की ओर उन्मुख होता है, इसलिए वह पर-प्रकाशी भी है। जैसे, 'मैं घट को जानता हू'। जब कोई मनुष्य घट को जानता है, तब उसे केवल घट का ही ज्ञान नही होता, 'मैं' इस कर्तृपद का भी ज्ञान होता है और 'जानता हू'—इस क्रियापद का भी ज्ञान होता है।[8] ज्ञान नेत्र की भाति स्व-प्रकाशी

6 परीक्षामुख, सूत्र 1।1
स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् ।

7 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1/15
ज्ञानादन्योऽर्थः परः ।

8 प्रमाणमीमासा, सूत्र 2, वृत्ति
'घटमह जानामि' इत्यादौ कर्तृकर्मवत् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात् ।

नही है किन्तु सूर्य की भांति स्व-पर-प्रकाशी है। जैसे सूर्य का प्रकाश अपनी उपलब्धि के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नही रखता वैसे ही ज्ञान अपनी उपलब्धि के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा नही रखता। माणिक्यनन्दि,[9] वादिदेवसूरि,[10] विद्यानन्द[11] आदि आचार्यो ने 'स्वपराभासि' के स्थान पर 'स्वपरव्यवसायि' का प्रयोग किया, इसलिए 'बाधविवर्जितम्' या 'अविसंवादि' जैसे विशेषण अपेक्षित नही रहे। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण के लक्षण मे 'स्व' के प्रयोग को भी आवश्यक नहीं माना। उनके मतानुसार प्रमाण का लक्षण 'सम्यग् अर्थ निर्णय' ही पर्याप्त है।[12] उन्होंने यह स्थापित किया है कि 'स्व निर्णय' प्रमाण का लक्षण नही हो सकता, क्योंकि वह अप्रमाण मे भी हो सकता है। ज्ञान की कोई भी मात्रा ऐसी नही है जो स्वसंविदित न हो। वृद्ध आचार्यो ने प्रमाण के लक्षण मे इसका प्रयोग किया है, वह परोक्ष-ज्ञानवाद आदि की परीक्षा के लिए है, इसलिए वह दोषपूर्ण नही है।[13]

चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। उसके अन्वयी परिणाम को उपयोग कहा जाता है। उसके दो रूप हैं अनाकार और साकार। निर्विकल्प चेतना अनाकार और सविकल्प चेतना साकार होती है। अनाकार उपयोग दर्शन और साकार उपयोग ज्ञान है।[14] दर्शन की तुलना बौद्ध सम्मत निर्विकल्प ज्ञान से की जाती है। बौद्ध निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। जैन परम्परा दर्शन को इसलिए प्रमाण नही मानती कि वह व्यवसायी (निर्णायक) नहीं होता।

9 परीक्षामुख, 1/1

10 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1/2
स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।

11 तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, 1/10/17
स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।

12 प्रमाणमीमांसा, सूत्र 2
सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।

13 प्रमाणमीमांसा, सूत्र 3
स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणं अप्रमाणेऽपि भावात्।
वृत्ति स्वनिर्णयस्तु अप्रमाणेऽपि संशयादौ वर्तते, न हि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम। ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुक्तोऽस्माभिः, वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त इत्यदोषः।

14 दर्शन और ज्ञान की व्याख्या का एक प्रकार सैद्धान्तिक है और दूसरा दार्शनिक। सैद्धान्तिकव्याख्या इस प्रकार है

दर्शन मे 'यह घट है, पट नही' इस प्रकार बाह्य पदार्थगत व्यतिरेक-प्रत्यय नही होता। 'यह भी घट है, यह भी घट है'—इस प्रकार बाह्य पदार्थगत

प्रामाण्य और अप्रामाण्य

ज्ञान का स्वरूप उभय प्रकाशी है। उसके स्वप्रकाशी स्वरूपाश मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य का प्रश्न उपस्थित होता है।[15] जो अर्थ जैसा है उसे उसी रूप मे जानना, प्रमेय के प्रति अविसवादी या अव्यभिचारी होना, प्रामाण्य है। व्यभिचारी या विसवादी होना—जो अर्थ जैसा नही हैं वैसा जानना—अप्रामाण्य है।[16]

प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञान मे स्वाभाविक होता है या किसी बाहरी सामग्री से उत्पन्न होता है ?—यह प्रश्न तार्किक परम्परा मे बहुत मीमासित हुआ है।

जैन परम्परा का मत यह है प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत होती है और उनकी ज्ञप्ति (निश्चय) अभ्यास (परिचय की) दशा मे स्वत होती है और अनाभ्यास (अपरिचय की) दशा मे परत होती है।[17] मैं मानता हूँ कि विभज्यवाद का आश्रय लिए बिना इस विषय की स्पष्टता नही हो सकती। प्रस्तुत मत प्रमाणशास्त्रीय चर्चा के सदर्भ मे निश्चित हुआ है। आगमिक ज्ञान मीमासा के

अन्वय-प्रत्यय भी नही होता। इसलिए वह बाह्य पदार्थ को ग्रहण नही करता, केवल चैतन्यरूप रहता है। जब बाह्य पदार्थ को जानने के लिए चैतन्य साकार या ज्ञेयाकार होता है तब वह ज्ञान कहलाता है।

विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर पदार्थ का जो निर्विकल्प या सामान्य बोध होता है, वह दर्शन है। और उसके पश्चात् जो सविकल्प बोध होता है, वह ज्ञान है। यह दर्शन और ज्ञान की दार्शनिक व्याख्या है। [देखें कसायपाहुड, भाग 1, पृ० 338, धवला, भाग 1, पृष्ठ 149, बृहद् द्रव्यसग्रह टीका, गाथा 43]

अनाकार-साकारगत 'आकार' शब्द का अर्थ विकल्प, विशेष और कर्म-कारक होता है। बौद्ध तदुत्पत्ति और तदाकारता से प्रतिनियत अर्थ का ज्ञान होना मानते हैं। जैनो को यह अभिप्रेत नही है। अमूर्त ज्ञान मूर्त पदार्थ के आकार का नही हो सकता। प्रस्तुत विषय मे साकार या ज्ञेयाकार का आशय यही है कि बाह्य विषय को जानने के लिए ज्ञाता मे एक विकल्प उत्पन्न होता है। उस आन्तरिक विकल्प को साकार या ज्ञेयाकार उपयोग कहा जाता है।

15 आप्तमीमासा, श्लोक 83
भावप्रमेयापेक्षाया, प्रमाणाभासनिह्नव ।
बहि प्रमेयापेक्षाया प्रमाण तन्निभ च ते ॥

16 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1118
ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्व प्रामाण्यम्। तदितरत्वमप्रामाण्यम्।

17 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1119
तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वत परतश्च ।

अनुसार इसे विभक्त करने पर कुछ नया फलित होता है। प्रामाण्य की उत्पत्ति परत ही होती है यह मत निरपेक्ष नही हो सकता। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मे प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत होती है और इन्द्रिय-ज्ञान के प्रमाण की उत्पत्ति परत होती है। अतीन्द्रिय ज्ञान स्वापेक्ष होता है इसलिए उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति मे किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नही होती। इन्द्रियज्ञान परापेक्ष होता है इसलिए उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति परत होती है। इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति मे अपेक्षित सामग्री यदि निर्दोष होती है तो उसका प्रामाण्य होता है और यदि वह सदोष होती है तो उसका अप्रामाण्य होता है।

इन्द्रियज्ञान की शक्ति बहुत सीमित और अस्पष्ट है। इसलिए उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य की भेद रेखा बहुत सकीर्ण है। आचार्य अकलक ने इस विषय को मर्मस्पर्शी पद्धति मे विश्लेषित किया है। विभज्यवाद की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनका मत है कि एकागी दृष्टिकोण से किसी भी ज्ञान को प्रमाण या अप्रमाण नही कहा जा सकता। ज्ञान के जिस आकार से तत्त्व का निर्णय होता है, उस अपेक्षा से उसका प्रामाण्य होता है, इसलिए प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की स्थिति सकीर्ण है। सकीर्ण का आशय इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कोई मनुष्य स्वस्थ इन्द्रियवाला होने पर भी चन्द्रमा को क्षितिज को छूता हुआ देखता है। यह अयथार्थ होने के कारण प्रमाण नही है। कोई मनुष्य अस्वस्थ इन्द्रिय वाला होने पर दो चाद देखता है। उस द्विचन्द्र ज्ञान मे सख्या-ज्ञानबोध विसवादी है, फिर भी चन्द्राश का ज्ञान अविसवादी है। इस स्थिति मे प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था का आधार क्या हो सकता? इसके उत्तर मे आचार्य अकलक ने लिखा है जैसे गन्धचूर्ण मे अनेक द्रव्यो के होने पर भी गन्ध की प्रकर्षता के कारण उसकी सज्ञा गन्धचूर्ण होती है, वैसे ही जिस ज्ञान मे सवाद की प्रकर्षता होती है उसकी सज्ञा प्रमाण है और जिसमे विसवाद की प्रकर्षता होती है, उसकी सज्ञा अप्रमाण है।[18] इन्द्रिय ज्ञान की शक्ति-सीमा और बाह्य सामग्री की सापेक्षता के कारण इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की पूर्ण विश्वसनीयता नही होती। इस आधार पर आचार्य अकलक ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य की सकीर्णता का सिद्धान्त निश्चित किया है। उसका मूल्याकन बहुत कम तार्किक कर पाए हैं।

---

18 अष्टशती (आप्तमीमासा, श्लोक 101 वृत्ति)

बुद्धेरनेकान्तात् येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदं तदपेक्षया प्रामाण्यम्। तत प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायश सकीर्णा प्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्य भूताकारावभासनात् तथोपहताक्षादेरपि सख्यादिविसवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलभात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गधद्रव्यादिवत्।

प्रमाण का फल

जैन दर्शन आत्मवादी होने के कारण आत्मा को प्रमाता मानता है। ज्ञान आत्मा का गुण है और वह प्रमा का साधकतम उपकरण है, इसलिए ज्ञान को प्रमाण मानता है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही होती है, इसलिए ज्ञान को ही प्रमाण का फल (प्रमिति) मानता है।

ज्ञान को प्रमाण और फल नही माना जा सकता यह प्रतिवादी नैयायिक द्वारा उपस्थापित तर्क है। यदि ज्ञान ही प्रमाण और वही फल हो तो, या तो ज्ञान होगा या फल। दोनो एक साथ कैसे हो सकते है ? इस समस्या के समाधान के रूप मे उनका परामर्श है कि ज्ञाता और विषय-ज्ञान के मध्य सबध स्थापित करने वाला इन्द्रिय-व्यापार, सन्निकर्ष आदि साधकतम करण प्रमाण है और उससे होने वाला विषय-ज्ञान या प्रमा प्रमाण का फल है।

प्रमा का जो साधकतम करण है वह प्रमाण है इस विषय मे जैन और नैयायिक तर्क परम्परा मे मतभेद नही है। किन्तु मतभेद इस विषय मे है कि नैयायिक इन्द्रिय-व्यापार, सन्निकर्ष आदि अचेतन तत्वो को प्रमा का साधकतम करण मानता है। जैन दर्शन अचेतन सामग्री को प्रमा का साधकतम करण नही मानता, ज्ञान को ही उसका साधकतम करण मानता है। नैयायिक मान्यता का फलित यह है—जिस करण से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रमाण है। और ज्ञान उसका (प्रमाण का) फल है। जैन मान्यता का फलित इससे भिन्न है। उसके अनुसार पूर्वक्षण का ज्ञान (साधन ज्ञान) प्रमाण है और उत्तरक्षण का ज्ञान (साध्य ज्ञान) उसका फल है। प्रमाणरूप स परिणत आत्मा ही फलरूप मे परिणत होता है, इसलिए प्रमाण को अज्ञानात्मक और फल को ज्ञानात्मक नही माना जा सकता। ज्ञेयोन्मुख ज्ञान-व्यापार प्रमाण और अज्ञान-निवृत्तिरूप ज्ञान-व्यापार फल होता है। ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञान-निवृत्ति है। ज्ञान ही अज्ञान-निवृत्ति नही है। ज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति होती है, इसलिए प्रमाण अज्ञान-निवृत्तिरूप फल का साधन है। प्रमाण पूर्वक्षणवर्ती है और फल उत्तरक्षणवर्ती। इस क्षण-भेद के कारण प्रमाण और फल भिन्न है। प्रमाण ज्ञान का साधनात्मक पर्याय है और फल उसका साध्यात्मक पर्याय है। इस पर्याय-भेद से भी प्रमाण और फल भिन्न हैं। जो प्रमाता ज्ञेय को जानता है उसी का अज्ञान निवृत्त होता है। जो ज्ञान रूप में परिणत होता है, वही फलरूप मे परिणत होता है। इस अपेक्षा से प्रमाण और फल अभिन्न भी हैं। अनेकान्तदृष्टि के अनुसार प्रमाण और फल मे सर्वथा भेद इसलिए नही हो सकता कि वे दोनो एक ही ज्ञानधारा के दो क्षण हैं, और सर्वथा अभेद इसलिए नही हो सकता कि उनमे पौर्वापर्य या साध्य-साधन-भाव है। प्रमाण का अनन्तर (साक्षात्) फल अज्ञान-निवृत्ति है। उसका परपर फल उपादान, हान और उपेक्षाबुद्धि

है। अज्ञान-निवृत्ति होने पर प्रमाता किसी वस्तु को ग्रहण करता है, किसी को छोडता है और किसी के प्रति उपेक्षाभाव रखता है। केवलज्ञान का परपर फल केवल उपेक्षा है। केवली कृतकृत्य होने के कारण उपादेय और हेय के प्रपच से मुक्त होता है।

प्रमाण का विभाग

प्रमाण के दो विभाग हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रिय-गम्य प्रमेय की इस द्विविध परिणति के आधार पर प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो विभाग किए गए हैं। प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है इस वास्तविकता को उलट कर भी कहा जा सकता है कि प्रमाण का विभागीकरण प्रमेय के अधीन है। अतीन्द्रियगम्य पदार्थ प्रत्यक्ष पद्धति के द्वारा जाने जाते हैं और इन्द्रियगम्य पदार्थ परोक्ष पद्धति के द्वारा जाने जाते है। इसीलिए प्रमाण के दो विभाग मान्य हुए है।[19] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी ज्ञेय-भेद से ज्ञान-भेद का सिद्धान्त स्वीकार किया है।[20]

बौद्ध तार्किको ने भी मेय की द्विविधता के कारण मान की द्विविधता का प्रतिपादन किया है।[21] धर्मकीर्ति के मतानुसार ज्ञान मे दो मौलिक तत्त्व देखे जाते हैं अर्थ-साक्षात्कार और कल्पना। साक्षात्कार मे ज्ञान उपस्थित विषय का ग्रहण मात्र करता है, अथवा यह कहना चाहिए कि एक विशिष्ट आकृति के साथ ज्ञान की स्फूर्ति अथवा प्रतिभास होता है। इसमे ज्ञान कुछ गढता नही, केवल देखता है। दूसरी ओर, शब्द के सहारे एव उसके द्वारा पिछली स्मृतियो और सस्कारो से प्रभावित होकर ज्ञान अनेक साक्षात्कारो की काट-छाट और जोड-तोड के द्वारा कल्पनाए प्रस्तुत करता है। इनमे नाम, जाति, द्रव्य, गुण और कर्म ये पाच कल्पनाए तो अनादि-वासना से सिद्ध मिलती है और इन्हे चित्त अपने स्थायी साचो की तरह प्रयुक्त करता है। अनुभव की सारी सामग्री इनमे ढाली जाती है और इस

19 न्यायावतार, श्लोक 1.

प्रमाण स्वपराभासिज्ञान बाधविवर्जितम् ।
प्रत्यक्ष च परोक्ष च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥

20 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 400

त पुण चतुव्विध णेयभेततो तेण ज तदुवयुत्तो ।
आदेसेण सव्व दव्वातिचतुव्विध मुणति ॥

स्वोपज्ञवृत्ति इह ज्ञेयभेदात् ज्ञानभेद ।

21 प्रमाणवार्त्तिक, 2/1

मान द्विविध मेयद्वैविध्यात् ।

प्रकार विकल्पात्मक ज्ञान सिद्ध होता है। विकल्प एक प्रकार के मन गढ़त हैं, किन्तु 'दृष्ट' वस्तुओ पर अन्य व्यावृत्ति के द्वारा आरोपित होने के कारण उनमे व्यवहार-समर्थता परम्परया सिद्ध होती है। विकल्प नियत-विषयक और अनियत-विषयक दोनो होते हैं। नियत-विषयक विकल्प प्रमाण-कोटि मे आरूढ होता है। यही अनुमान कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान मे प्रतीत द्वैत से ही प्रमाणो का द्वैत सिद्ध होता है—साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष है और नियत-विकल्पात्मक अनुमान। सभी नियत-विषयक ज्ञान इन दो कोटियो मे समा जाता है।[22]

बौद्ध दो प्रकार के प्रमेय मानते है स्वलक्षण (विशेष) और अन्यापोह (सामान्य)। विशेष प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है और सामान्य अनुमान के द्वारा जाना जाता है।

जैनो और बौद्धो की तर्क-परम्परा मे प्रमेय की द्विविधता के आधार पर प्रमाण की द्विविधता मान्य होने पर भी उनमे मौलिक अन्तर है। जैन परम्परा के अनुसार प्रमेय सामान्य-विशेषात्मक होता है। सामान्य और विशेष दोनो वस्तु धर्म है अत वे वास्तविक हैं। निर्विकल्प ज्ञान (अनाकार उपयोग या दर्शन) अनिश्चयात्मक होने के कारण प्रमाण ही नही होता। सविकल्पज्ञान (साकार उपयोग) ही निश्चयात्मक होने के कारण प्रमाण होता है। प्रमेय का साक्षात् ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष और उसका असाक्षात् (अन्य माध्यमो के द्वारा) ग्रहण करने वाला ज्ञान परोक्ष होता है।

प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—इन्द्रियमानस प्रत्यक्ष अथवा साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष। परोक्ष के पाच प्रकार हैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।

स्वसविदित ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है। अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से उसके दो प्रकार होते है प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो ज्ञान विशद होता है, ज्ञेय अर्थ को साक्षात् जानता है, किसी माध्यम से नही जानता, जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य कोई व्यवधान नही होता, वह प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान अविशद होता है, बाहरी उपकरणो के माध्यम से ज्ञेय अर्थ को जानता है, जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य व्यवधान होता है, वह परोक्ष है।

प्रत्यक्ष की नियामक-शक्ति वैशद्य है। आत्ममात्रापेक्ष होने के कारण विषय-बोध मे वह कही भी स्खलित नही होती। इसीलिए यह परमार्थिक प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-मनोजन्य ज्ञान आत्ममात्रापेक्ष नही होता, इसलिए वह अविशद है। फिर भी

22 न्यायबिन्दु (गोविन्दचन्द्र पाडेकृत अनुवाद) पृष्ठ 4।

अनुमान आदि की अपेक्षा वह ज्ञेय को स्पष्टतया जानता है। इसलिए वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।[23]

परोक्ष का नियामक तत्त्व है अवैशद्य। अनुमान हेतु के माध्यम मे इसीलिए होता है कि उसमे वैशद्य की क्षमता नही होती।

वौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष को निर्विकल्प और सविकल्प दोनो मानते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्प ज्ञान सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करता है। जैन परपरा के अनुसार प्रत्यक्ष निर्विकल्प और सविकल्प - दोनो प्रकार का होता है। इन्द्रिय-मानस-प्रत्यक्ष के क्रम-विकास की व्यवस्था इस प्रकार है—सर्व प्रथम विषय और विषयी का सन्निपात होता है। चार इन्द्रिया प्राप्यकारी हैं। चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं। इन्द्रिय—चतुष्टय का विषय के साथ सन्निकर्ष तथा चक्षु और मन का विषय के साथ उचित सामीप्य जो होता है वह सन्निपात है। उसके अनन्तर सामान्यमात्रग्राही दर्शन होता है। तत् पश्चात् अवान्तर सामान्य का वोध होता है। इसका नाम अवग्रह है। प्राप्यकारी इन्द्रिया व्यञ्जनावग्रह (सवध-वोध) के वाद अर्थ को ग्रहण करती हैं। चक्षु और मन अर्थ को सीधे ही जान लेते हैं। अवग्रह के वोध का आकार 'कुछ है' यह होता है। यह अनिर्देश्य सामान्य का वोध है। इसमे नाम, जाति, द्रव्य, गुण, और क्रिया की कल्पना नही होती।[24] यह शब्द है, रूप है इस आकार का वोध नही होता। अवग्रह के पश्चात् सशय-ज्ञान होता है। इसके वाद ईहा होती है अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक विमर्श होता है। उसका आकार है—यह श्रोत्र का विषय वन रहा है, अन्य इन्द्रियो का विषय नही वन रहा है, इसलिए शब्द होना चाहिए। 'यह शब्द ही है'—इस आकार का निर्णय ज्ञान अवाय है। निर्णीत विषय सस्कार वन जाता है, वह धारणा है।

यह शब्द-पर्याय का ज्ञान है। शब्द के अन्य पर्यायो के ज्ञान मे भी अवग्रह आदि का क्रम चलता है, जैसे—

'शब्द है'—इस आकार का ज्ञान अवग्रह है।

फिर सशय होता है।

यह शब्द मधुरधर्मा है, कर्कशधर्मा नही है, इसलिए शख का होना चाहिए, सीग का नही होना चाहिए—इस आकार का ज्ञान ईहा है।

23 लघीयस्त्रय, 3

प्रत्यक्ष विशद ज्ञान, मुख्यसव्यवहारत ।

परोक्ष शेषविज्ञान, प्रमाणे इति सग्रह ॥

24 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 251 ·

सामण्णमणिद्देस सरूवणामतिकप्पणारहित ॥

'यह शंख का ही शब्द है' इस आकार का ज्ञान अवाय है।

'शंख शब्द के बोध की अविच्युति धारणा है। इस प्रकार पर्यायों का उत्तरोत्तर बोध होता है।[25]

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भांति मानस-प्रत्यक्ष भी अवग्रहादि चतुष्टयी के क्रम से होता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के क्रम मे अवग्रह तक केवल इन्द्रियां काम करती है और ईहा से उसमे मन का योग हो जाता है। इन्द्रियों का काम वस्तु को जानना और केवल वर्तमान का बोध करना है। विकल्प उनका काम नही है। वह मन का काम है। प्रश्न हो सकता है कि अवगृहीत विषय को निर्णय की कोटि तक मन ले जाता है, फिर उसे इन्द्रिय-ज्ञान क्यो माना जाए ? इसके समाधान की भाषा यह है कि जिसका आरंभ इन्द्रिय-ज्ञान से होता है और जो ज्ञान वस्तु-विषयक होता है, वह

25 मूलपर्याय के बोध को नैश्चयिक अवग्रह-चतुष्टय और उत्तरपर्यायों के बोध को व्यावहारिक अवग्रह-चतुष्टय कहा जाता है।

एक परंपरा अवग्रह को 'विशेष' मानने के पक्ष मे रही है। उसके अनुसार दर्शन अविभावित-विशेष होता है, जैसे—कुछ है। अवग्रह विभावित-विशेष होता है, जैसे यह रूप है। यह सफेद है या काला—यह संशय है। यह सफेद होना चाहिए यह ईहा है। यह सफेद ही है, काला नही है—यह अवाय है। अकलंक के अनुसार 'यह पुरुष है'—इस आकार का बोध अवग्रह है। भाषा, अवस्था आदि विशेषों की आकांक्षा ईहा है। विशेष के आधार पर निर्णय होना अवाय है, जैसे यह पुरुष दक्षिण प्रदेशवासी है, यह पुरुष युवा है। (तत्त्वार्थवार्तिक 1।15) जिनभद्र ने इस अवग्रह, ईहा और आवाय की धारा को उपचरित माना है। यह उत्तरोत्तर उद्घाटित होने वाले विशेषों की अपेक्षा सामान्य है, इसलिए इसमे सामान्य का उपचार किया जा सकता है। जब तक अन्तिम विशेष या भेद प्राप्त न हो तब तक सामान्य—विशेष का उपचार किया जा सकता है।

(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 281–283, वृत्ति इह यद् वस्तुसामान्य-मात्रग्रहणमनिर्देश्यमयमर्थावग्रहो नैश्चयिके समयमात्रकाल प्रथम । तत 'किमिदम्'इत्यन्तरमीहितमस्तुविशेषस्य शब्दविशेषे विज्ञानरूपो योऽवाय स एव हि पुनर्भाविनीमीहामवाय चापेक्ष्याऽवग्रह इत्युपचरित सूत्रे, यस्मादेष्यविशेषा-पेक्षया सामान्यमालम्बते । सामान्यार्थावग्रहण चावग्रह इति । ततो भूय किमय शाङ्ख शार्ङ्गो वेत्यादि विशेषाकाङ्क्षयेहानन्तरमवाय शाङ्ख शार्ङ्गो वेत्यादि । स एव भूयस्तद्विशेपाकाक्षातो भाविनीमीहामवायमेष्यद्विशेषाश्चापेक्ष्य सामान्यालम्बनादवग्रह इत्युपचर्यते । इत्येव सर्वत्र सामान्यविशेषापेक्षया यावदन्त्यो भेदस्तदाकाक्षाविनिवृत्तिर्वेति ।)

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। इस क्रम में मन उसका सहयोगी है, किन्तु उस ज्ञान धारा का प्रवर्तक नहीं है। मानस-प्रत्यक्ष में ज्ञान की धारा का आरम्भ मन से ही होता है। मन इन्द्रियगृहीत विषयों को ग्रहण कर उनका संकलन, मीमांसा, वितर्क करता है तथा नये-नये नियमों और प्रत्ययों का निर्माण करता है। ये प्रवृत्तियां इन्द्रियारब्ध नहीं होतीं। यह मन का अपना कार्यक्षेत्र है। नंदी के चूर्णिकार ने बताया है कि स्वप्न अवस्था में मन शब्द आदि विषयों को ग्रहण करता है। वह ग्रहण अवग्रह आदि के क्रम से होता है। जागृत अवस्था में इन्द्रिय-व्यापार के अभाव में केवल मन का मनन होता है। वह भी अवग्रह आदि के क्रम से होता है।[26]

हम जब कभी इन्द्रिय-मानस-प्रत्यक्ष की स्थिति में होते हैं तब इसी अवग्रह आदि के क्रम से गुजरते हैं। यह क्रम इतना आशुसंचारी है कि यह पता ही नहीं चलता कि ऐसा होता है। अपरिचित विषय के बोध में इस क्रम का अनुभव किया जा सकता है। किन्तु परिचित विषय के बोध में इसका सहज अनुभव नहीं होता, यद्यपि यह क्रम अवश्य होता है।

दर्शन व्यवसायी नहीं होता, इसलिए तर्क-परम्परा में उसे प्रमाण की कोटि में नहीं माना गया। फिर अवग्रह और ईहा को प्रमाण कैसे माना जा सकता है? यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है। इस प्रश्न को दो कोणों से उत्तरित किया जा सकता है। पहला कोण यह है अवग्रह, ईहा और अवाय—ये एक ही ज्ञानधारा के तीन विराम हैं, इसलिए अवाय के प्रमाण होने का अर्थ है कि अवग्रह और ईहा भी प्रमाण हैं। दूसरा कोण यह है—अवग्रह में विषय का बोध होता है। ईहा में अन्वय और व्यतिरेक धर्मों का विमर्श होता है और अवाय में उनकी पुष्टि होती है। इस प्रकार प्रत्येक विराम में नये-नये पर्याय का उद्घाटन होता है। और यदि इसमें कोई विसंवादिता न हो तो इस समग्र ज्ञानधारा को प्रमाण मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

बौद्धों ने प्रत्यक्ष के चार भेद माने हैं

1 इन्द्रिय-ज्ञान
2 मानस-प्रत्यक्ष
3 स्व-संवेदन
4 योगि-प्रत्यक्ष।

26 (क) नंदी, सूत्र 56, चूर्णि
एवं मणमो वि सुविणे सद्दादिविसएसु अवग्गहादयो णेया, अण्णत्थ वा इंदियवावारअभावे मणोमाणस्स त्ति।
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 293।

जैन परम्परा मे स्व-सवेदन-प्रत्यक्ष की स्वतत्र गणना नही है। मीमासको का मत है कि ज्ञान केवल ज्ञेय-अर्थ को प्रकाशित करता है। उसकी अपनी सत्ता का अर्थबोध से अनुमान किया जाता है। नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान का ज्ञान ज्ञानान्तर (अनुव्यवसाय) से होता है। 'यह घट है' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान व्यवसाय है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान का मानस-प्रत्यक्ष अनुव्यवसाय कहलाता है। जैसे मैं देख रहा हू कि यह घट है। बौद्ध दर्शन की एक शाखा माध्यमिक भी ज्ञान को स्वप्रकाशी नही मानती। इन मतो को ध्यान मे रखकर धर्मकीर्त्ति ने स्व-सवेदन-प्रत्यक्ष को स्वतत्र स्थान दिया। जैन परम्परा मे ज्ञान का स्वरूप स्व-पर-प्रकाशक है, इसलिए स्व-सवेदन ज्ञानमात्र मे होता है। वह प्रत्यक्ष का विशिष्ट प्रकार नही बन सकता। स्व-सवेदन चेतना का अनाकार उपयोग या दर्शन है। यद्यपि दार्शनिक युग मे दर्शन का अर्थ सामान्यग्राही उपयोग और ज्ञान का अर्थ विशेषग्राही उपयोग किया गया है, किन्तु यह मीमासनीय नही है, ऐसा नही कहा जा सकता। द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है, तब केवल विशेष को जानने वाला ज्ञान (साकार या सविकल्प उपयोग) प्रमाण कैसे हो सकता है और केवल सामान्य को जानने वाला दर्शन (अनाकार या निर्विकल्प उपयोग) अप्रमाण कैसे हो सकता है? उक्त व्याख्या मे केवलज्ञान और केवलदर्शन का अर्थ भी घटित नही होता। उन्हे युगपत् माना जाए तो प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार वे दोनो युक्त होकर प्रमाण बनते हैं, अकेला कोई प्रमाण नही होता। यदि उन्हे क्रमश माना जाए तो केवलज्ञान विशेषग्राही होने के कारण सपूर्ण अर्थग्राही नही होता, इसलिए वह प्रमाण नही हो सकता।

दर्शन (अनाकार उपयोग) और ज्ञान (साकार उपयोग) की यह व्याख्या मानी जाए कि स्व-सवेदन या आन्तरिक बोध दर्शन है और बाह्य अर्थ का बोध ज्ञान है और वे सदा युगपत् होते हैं तो समूची समस्या का समाधान हो जाता है। दर्शन प्रमाण नही है। इसे इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है कि स्व-सवेदन मे बाह्य पदार्थ को जानने का कोई प्रयत्न या आकार नही होता। वह केवल स्व-प्रत्यय ही होता है, इसलिए अनाकार है। और अनाकार है इसलिए उसे बाह्य पदार्थ-बोध की अपेक्षा से प्रमाण नही माना जा सकता। ज्ञान मे बाह्य पदार्थ को जानने का प्रयत्न या आकार नही होता। वह पर-प्रत्यय होता है, इसलिए साकार है और साकार है इसलिए वह बाह्य पदार्थ-बोध की अपेक्षा से प्रमाण है। इस आधार पर केवलज्ञान के प्रामाण्य मे भी कोई आच नही आती। स्वरूप की अपेक्षा ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। प्रत्यक्ष और परोक्ष का प्रमाणशास्त्रीय विभाग केवल बाह्य पदार्थ-बोध की अपेक्षा से है। प्रमाण और अप्रमाण का विभाग भी केवल बाह्य पदार्थ-बोध की अपेक्षा मे है। इन अभ्युपगमो की सगति भी दर्शन को स्व-प्रत्यय और ज्ञान को पर-प्रत्यय मानने पर ही होती है। दर्शन का अर्थ भी प्रत्यक्ष या साक्षात् है। स्व-प्रत्यय साक्षात् ही होता है, इसलिए दर्शन शब्द उस अर्थ को यथार्थ अभिव्यक्ति देता है।

अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष (नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष) के तीन प्रकार हैं अवधि, मन पर्यव और केवल। इस विषय मे प्रमाणमीमासा का वर्ण्य विषय ज्ञानमीमासा से भिन्न नही है। अवधिज्ञान भवहेतुक भी होता है, इसलिए अतीन्द्रियज्ञान को पूर्णत योगिज्ञान नही कहा जा सकता। किन्तु भव-प्रत्यय अवधिज्ञान को छोड कर शेष अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान की बौद्धो के योगि-प्रत्यक्ष और नव्य नैयायिको[27] के योगज-प्रत्यक्ष से तुलना की जा सकती है।

केवलज्ञान सबसे अधिक कसौटी पर कसा गया है। इसके समर्थन और विरोध मे विशाल ग्रन्थ-राशि उपलब्ध होती है। केवलज्ञान का अर्थ है सर्वज्ञता। जो सर्वज्ञ होता है वह धर्मज्ञ होता ही है। मीमासक मानते हैं कि मनुष्य धर्मज्ञ नही हो सकता। इससे ठीक विपरीत मत बौद्धो का है। दिङ नाग का तर्क है कि मनुष्य धर्मज्ञ हो सकता है, सर्वज्ञ नही हो सकता। धर्मज्ञता के लिए वेद-प्रामाण्य की आवश्यकता नही है। जैनदृष्टि इन दोनो से भिन्न है। उसके अनुसार मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है और जो सर्वज्ञ होता है, वह धर्मज्ञ होता ही है। धर्मज्ञता का अन्तिम प्रामाण्य सर्वज्ञता ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वज्ञता की व्याख्या नयो के आधार पर की है। उनका मत है कि केवली सबको जानता है—यह व्यवहारनय का दृष्टिकोण है। निश्चयनय की दृष्टि से केवली अपनी आत्मा को ही जानता है। इसका फलित है कि व्यवहार-नय से केवली सर्वज्ञ है और निश्चयनय से आत्मज्ञ।[28]

सभी आत्मवादी दर्शनो ने अतीन्द्रियज्ञान या साक्षात्कार को स्वीकृति दी है। मतभेद का जो बिन्दु है वह 'सर्व' शब्द है। इस 'सर्व' शब्द की व्याख्या भी सबकी भिन्न-भिन्न है। जैन परम्परा मे सर्वज्ञ के 'सर्व' शब्द की व्याख्या यह है—केवलज्ञान सब द्रव्यो, सब क्षेत्रो, सब कालो और सब पर्यायो को जानता है।[29] 'सर्व' शब्द की

27 नवीन नैयायिको ने प्रत्यक्ष के दो प्रकार किए हैं लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष। गगेश उपाध्याय के अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है—सामान्यलक्षण, विशेषलक्षण और योगज।

28 नियमसार, गाथा 158

जाणदि पस्सदि सव्व, ववहारणएण केवली भगव।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ॥

29 नदी, सूत्र 33

दव्वओ ण केवलनाणी सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ।
खेत्तओ ण केवलनाणी सव्व खेत्त जाणइ पासइ।
कालओ ण केवलनाणी सव्व काल जाणइ पासइ।
भावओ ण केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ।

इस व्यापक विषयावगाहिता मे केवल मीमासको को ही विप्रतिपत्ति नही है, बौद्धो को भी है। एक दृष्टि से नैयायिको और साख्यो को भी है।

सैद्धान्तिकदृष्टि से आगमयुग मे केवलज्ञान की व्याख्या के ये फलित हैं

1 सर्वथा अनावृत चेतना जो ज्ञानावरण के क्षीण होने पर होती है।

2 शुद्ध चेतना जो कषाय के क्षीण होने पर होती है।

3 केवलज्ञान जो कषायजनित सवेदनो के क्षीण होने पर होता है।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और उसके बाद उन्होने जो जाना उससे फलित होने वाली केवलज्ञान की व्याख्या मे सर्वज्ञता और सर्वभावदर्शिता है, फिर भी उसकी उतनी व्यापकता नही है जितनी दार्शनिक युग की व्याख्याओ मे है। नन्दीसूत्र मे केवलज्ञान की जो व्याख्या है और जो भगवतीसूत्र मे सक्रान्त हुई है, उसीके आधार पर जैन तार्किको ने सर्वज्ञता का समर्थन किया है। उसके समर्थन मे अनेक तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। यहा उनमे से कुछेक तर्को का मैं उल्लेख करूगा —

1 आत्मा स्वभाव से ही 'ज्ञ' है। वह प्रतिबन्धक (ज्ञानावरण) के होने पर 'अ-ज्ञ' होता है सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ पदार्थों का साक्षात् नही कर सकता। प्रतिबन्धक हेतु समाप्त होने पर वह 'ज्ञ' हो जाता है। फिर 'ज्ञ' और 'ज्ञेय' के बीच कोई अवरोध नही होता, इसलिए ज्ञेयमात्र उसमे प्रतिभासित होता है।[30]

2 सर्वज्ञता का निरसन करने वाले कहते हैं कि मनुष्य सर्वज्ञ नही हो सकता। आचार्य ने पूछा—यह आप कैसे कहते है ? सर्वज्ञ नही है, यह आप जानकर कहते हैं या अनजाने ही ? सदा, सर्वत्र, सबमे से कोई भी सर्वज्ञ नही होता, यदि यह जानकर कहते हैं तो आप ही सर्वज्ञ हो गए। और यदि बिना जाने कहते है तो आप यह कैसे कह सकते हैं कि किसी भी देश-काल मे कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नही होता ?

3 किसी तत्त्व की सत्ता साधक-प्रमाण और बाधक- प्रमाण के अभाव द्वारा की जाती है। सर्वज्ञता का कोई सुनिश्चित बाधक-प्रमाण उपलब्ध नही है। इसलिए उसकी स्वीकृति निर्बाध है।[31]

30 योगबिन्दु, श्लोक 431

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञ. स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धक ॥

31 प्रमाणमीमासा, 1/1/17

बाधकाभावाच्च । ' ' वृत्ति—सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वात् सुखादिवद्तत्सिद्धि ।

4 सूक्ष्म, अन्तरित (व्यवहित) और देश-काल से विप्रकृष्ट पदार्थ किसी व्यक्ति के अवश्य प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अनुमेय अग्नि किसी के प्रत्यक्ष होती है।[32]

5 ज्ञान मे तरतमता उपलब्ध होती है। उसका कोई चरम विन्दु होता है। जैसे परिमाण की तरतमता का चरमरूप आकाश है, वैसे ही ज्ञान की तरतमता का चरमरूप केवलज्ञान है।[33]

स्मृति

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह प्रत्यक्ष का क्रम-विभाग है। इसका उत्तरवर्ती क्रम-विभाग परोक्ष का है। यह विभाजन वैशद्य और अवैशद्य के आधार पर है, किन्तु कार्य-कारणभाव के आधार पर ये सव एक ही सूत्र मे आवद्ध हैं। जो धारणा होती है—हमारे मस्तिष्कीय प्रकोष्ठों मे सस्कार निर्मित हो जाते हैं वह निमित्त पाकर जागृत हो जाती है।

अन्य तार्किक परपराओ मे स्मृति का प्रामाण्य सम्मत नही है। जैन परपरा मे इसका प्रामाण्य समर्थित है। स्मृति अविसवादी ज्ञान है। अतीत की स्मृति मे जातिस्मृति का भी एक स्थान है, जिससे सुदूर अतीत अर्थात् पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। वह यथार्थवोध है और उसके द्वारा सवादी व्यवहार सिद्ध होता है, इसलिए उसका प्रामाण्य असदिग्ध है।

वौद्धो का तर्क था कि स्मृति पूर्वानुभव-परतत्र है, इसलिए वह प्रमाण नही हो सकती। प्रमाण वह ज्ञान होता है जो अपूर्व-अर्थ को जानता है। स्मृति का विषय है—पूर्वानुभव का ज्ञान। वह प्रमाण कैसे हो सकती है ?

मीमासकप्रवर कुमारिल ने भी गृहीतार्थ-ग्राहिता के आधार पर स्मृति का अप्रामाण्य प्रतिपादित किया है।

नैयायिकमनीषी जयन्त ने स्मृति के प्रामाण्य का इसलिए निरसन किया कि वह अर्थजन्य नही है। ज्ञान को अर्थज—अर्थोत्पन्न होना चाहिए। यदि वह अर्थज नही है तो प्रमाण कैसे हो सकता है ?

---

32 आप्तमीमासा, श्लोक 5

सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा• कस्यचिद्यया।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसस्थिति ॥

33 प्रमाणमीमासा, 1/1/16

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धि। वृत्ति प्रज्ञाया अतिशय तारतम्य क्वचित् विश्रान्तम्, अतिशयत्वात् परिमाणातिशयवदित्यनुमानेन निरतिशयप्रज्ञादिसिद्ध्या तस्य केवलज्ञानस्य सिद्धि•।

जैन तार्किकों ने उक्त आक्षेपों की समीक्षा में कहा कि स्मृति के प्रामाण्य की कसौटी व्यवहार-प्रवर्तन है। पानी पीया, प्यास बुझ गई। मार्ग से चला, लक्ष्य तक पहुंच गया। पानी से प्यास बुझती है इस पूर्वानुभव की स्मृति के आधार पर मनुष्य पानी पीता है। अमुक मार्ग अमुक नगर को जाता है—इस पूर्वबोध की स्मृति के आधार पर मनुष्य निश्चित मार्ग पर चलता है। व्यवहार की सिद्धि संवादिता सिद्ध करती है, फिर स्मृति का प्रामाण्य कैसे निरस्त किया जा सकता है, भले फिर वह पूर्वानुभव-परतन्त्र या गृहीतार्थग्राही ज्ञान हो।

स्मृति अर्थोत्पन्न नहीं है, इसलिए यदि उसे अप्रमाण माना जाए तो अनुमान के प्रामाण्य में भी कठिनाई उपस्थित होगी। पुष्य नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि इस समय पुनर्वसु नक्षत्र उदित है। पुष्य का उदय होगा, वर्तमान में वह उदित नहीं है फिर पूर्वचर हेतु कैसे बनेगा? उत्तरचर हेतु भी कैसे बन सकता है? नदी में बाढ देखकर वर्षा का अनुमान (नैयायिक सम्मत शेषवत् अनुमान) कैसे होगा? इसलिए स्मृतिज्ञान अर्थोत्पन्न नहीं है - यह तर्क महत्त्वपूर्ण नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा

स्मृति का हेतु केवल धारणा है। प्रत्यभिज्ञा के दो हेतु हैं प्रत्यक्ष और स्मरण। इसलिए यह संकलनात्मक ज्ञान है। स्मृतिज्ञान का आकार 'वह मनुष्य' है और प्रत्यभिज्ञा का आकार 'यह वही मनुष्य है' है। 'यह मनुष्य' यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। 'वह' - यह स्मृति है। इन दोनों का जो योग है, वह एकत्व-प्रत्यभिज्ञा है।

शाकाहारी पशु गाय की भांति पानी पीते हैं। मांसाहारी पशु गाय की भांति पानी नहीं पीते। वे जीभ से पानी का लेहन करते हैं। इनमें प्रथम सादृश्य-प्रत्यभिज्ञा और दूसरा वैसदृश्य-प्रत्यभिज्ञा है। 'यह उससे छोटा है', 'यह उससे बडा है', 'यह उससे दूर है', 'यह उससे निकट है', यह उससे ऊंचा है', 'यह उससे नीचा है' यह सापेक्ष-प्रत्यभिज्ञा है।

संज्ञा और संज्ञी के संबंध का ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा से होता है। किसी ने बताया कि जो दूध और पानी को अलग करे वह हंस होता है। जिसके तीन-तीन पत्ते होते हैं वह पलाश होता हैं। श्रोता न हंस को जानता है और न पलाश को। उसने वक्ता से सुना और उसके मन में एक संस्कार निर्मित हो गया। उसने देखा, पक्षी की चोंच दूध की प्याली में पडी और दूध फट गया—दूध अलग और पानी अलग। प्रत्यक्ष और स्मृति—दोनों का योग हुआ, उसे संज्ञा और संज्ञी (हंस शब्द और हंस शब्दवाच्य पक्षी) के संबंध का ज्ञान हो गया। इसी प्रकार उसने जंगल में तीन-तीन पत्ते वाले पेड को देखा। प्रत्यक्ष और स्मृत्ति दोनों युक्त हुए और उसे संज्ञा-संज्ञी (पलाश शब्द और पलाश शब्दवाच्य पेड) के संबंध का ज्ञान हो गया।

दो आदि सख्या का वोध भी प्रत्यभिज्ञान से होता है। स्मृति और प्रत्यक्ष के निमित्त से होने वाले जितने भी सकलनात्मक मानस-विकल्प हैं ये सव प्रत्यभिज्ञान के ही प्रकार हैं।[34]

वौद्ध तार्किक प्रत्यभिज्ञा को मान्य नही करते। उनका मत है कि 'वह' यह परोक्ष ज्ञान है और 'यह' यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दो विरोवी ज्ञानो का आधार एक नही हो सकता, इसलिए यह दो ज्ञानो का समुच्चय है, एक स्वतत्र ज्ञान नही है।

जैन तार्किक इस तर्क को स्वीकार नही करते। वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान प्रत्यभिज्ञा के कारण हैं। उन दोनो कारणो से एक स्वतत्र ज्ञान उत्पन्न होता है। उसी के द्वारा हम 'यह' और 'वह' के वीच मे रहे हुए एकत्व को जानते हैं। उस एकत्व का वोध हमे न प्रत्यक्ष से हो सकता है और न परोक्ष मे भी हो सकता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के सम्मिश्रण से एक नया ज्ञान उत्पन्न होता है और उसी के द्वारा हम एकत्व को जानते हैं। वह एकत्व प्रत्यक्ष नही होता, इसलिए एकत्व-वोध को परोक्ष की कोटि मे स्थान दिया गया है। वौद्धमतानुसार एक ही ज्ञान निर्विकल्प और सविकल्प दो विरोवी धर्मो का आधार हो सकता है तव प्रत्यभिज्ञा दो विरोधी धर्मो का आधार क्यो नही हो सकती?

नैयायिक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्षज्ञान मानते हैं। उनके अनुसार साधारण प्रत्यक्ष केवल वर्तमानावगाही होता है और प्रत्यभिज्ञा मे वर्तमान सवेदन अतीत की स्मृति से प्रभावित होता है। अतीतावस्थावच्छिन्न वर्तमान को मुख्यता देने के कारण इसे वे वर्तमान की कोटि मे सम्मिलित करते हैं।

जैन तर्क के अनुसार प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष नही हो सकता। क्योकि हमे प्रत्यक्ष व्यक्ति का ज्ञान नही करना है, किन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दोनो कालो मे विद्यमान व्यक्ति के एकत्व को जानना है। वर्तमान अश को जान लेने के वाद प्रत्यक्ष का कार्य सपन्न हो जाता है, इसलिए उसके द्वारा एकत्व को नही जाना जा सकता।

उपमान के विषय मे न्यायशास्त्रीय धारणा एक नही है। वौद्ध उपमान को प्रत्यक्ष से भिन्न नही मानते। वैशेपिक उसे अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं। नैयायिक उसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते हैं। जैन परम्परा मे वह प्रत्यभिज्ञा का

34 प्रमाणप्रवेश, 21

इदमल्प महद्दूरमासन्न प्राशु नेति वा।
व्यपेक्षात समक्षेऽर्थे, विकल्पः साधनान्तरम्॥

दृष्टेष्वर्थेपु परस्परव्यपेक्षालक्षण अल्पमहत्त्वादिज्ञान अधरोत्तरादिज्ञान द्वित्वादिसख्याज्ञान अन्यच्च प्रमाण, अविसम्वादकत्वात् उपमानवत्।

एक प्रकार है। वे इसका समर्थन इस आधार पर करते हैं 'गवय गाय के समान होता है' इस आकार मे गाय और गवय का ज्ञान मुख्य नही है, किन्तु उनमे रहा हुआ सादृश्य-बोध मुख्य है। इसलिए यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञा से भिन्न नही है।

उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने मे कोई आपत्ति नही है। इसका प्रत्यभिज्ञा मे समावेश हो सकता है और प्रमाणो की सख्या अनन्त न हो, इस दृष्टि से प्रमाण-व्यवस्था-युग मे इसका प्रत्यभिज्ञा मे समावेश किया गया।

तर्क

तर्क भारतीय दर्शन का सुपरिचित शब्द है। कुछ विषयो मे इसे अप्रतिष्ठ कहा गया है। फिर भी चिन्तन के क्षेत्र मे इसका महत्त्व बहुत पहले से रहा है। न्याय-शास्त्र मे इसका विशेष अर्थ है। अनुमान के लिए व्याप्ति की अनिवार्यता है और व्याप्ति के लिए तर्क की अनिवार्यता है क्योकि इसके बिना व्याप्ति की सत्यता का निर्णय नही किया जा सकता। प्राय सभी तर्कशास्त्रीय परम्पराए तर्क के इस महत्त्व को स्वीकार करती हैं। उनमे यदि कोई मतभेद है तो वह इसके प्रामाण्य के विषय मे है। नैयायिक आदि इसे प्रमाण या अप्रमाण की कोटि मे नही गिनते, प्रमाण का अनुग्राहक मानते हैं। जैन परपरा मे यह प्रमाणरूप मे स्वीकृत है। इसका स्वतत्र कार्य है, इसलिए यह परोक्ष प्रमाण का तीसरा प्रकार है। जहा-जहा धूम होता है वहा-वहा अग्नि होती है यह व्याप्ति है। इस व्याप्ति का ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस-प्रत्यक्ष के द्वारा नही होता। प्रत्यक्ष कार्य-कारण को जानता है, उनके सबध को नही जानता। अनुमान व्याप्ति के बाद होता है, अत उसके द्वारा भी व्याप्ति का ज्ञान नही हो सकता। अनुमान के द्वारा व्याप्ति को सिद्ध किया जाए और व्याप्ति के द्वारा अनुमान को सिद्ध किया जाए तो इस अन्योन्याश्रयता मे कोई निर्णयात्मक विकल्प हमारे हाथ नही लगता। इस समस्या को सुलझाने के लिए जैन तार्किको ने तर्क का प्रामाण्य स्वीकार किया।

तर्क का कार्य व्याप्ति का निर्णय करना है। जो धूम है वह अग्निजन्य है, अग्नि-भिन्न-पदार्थ से जन्य नही है। अग्नि के सद्भाव मे धूम का होना उपलम्भ है और उसके अभाव से धूम का न होना अनुपलम्भ है। इस उपलम्भ और अनुपलम्भ से तर्क उत्पन्न होता है और वह धूम और अग्नि के सबध का निर्णय करता है। उसके द्वारा सर्वकाल, सर्वदेश और सर्वव्यक्ति मे प्राप्त होने वाले अविनाभाव सबध को व्याप्ति के रूप मे स्वीकृति मिलती है। जो सबध सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वव्यक्तिक नही होता, उसे व्याप्ति के रूप मे तर्क का समर्थन नही मिलता और जिसे तर्क का समर्थन नही मिलता, वह व्याप्ति अनुमान के लिए उपयोगी नही होती। तर्क के द्वारा अविनाभाव-सबध का निश्चय हो जाने पर ही साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान अर्थात् अनुमान किया जा सकता है।

आगम

आचार्य सिद्धसेन ने परोक्ष के दो भेद स्वीकार किए हैं अनुमान और श्रुत-आगम ।[35] स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क का उन्होने परोक्ष प्रमाण के प्रकारो के रूप मे उल्लेख नही किया है । परोक्ष के उक्त पाच प्रकारो की व्यवस्था आचार्य अकलक ने की । उसका आधार तत्वार्थसूत्र और नदीसूत्र मे वर्णित मतिज्ञान रहा ।[36] स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान ये चार मतिज्ञान के प्रकार हैं और आगम श्रुतज्ञान है । अकलक ने अनुमान को श्रुतज्ञान के अन्तर्गत माना है ।[37] सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने श्रुतज्ञान के दो प्रकार किए हैं शब्दलिगज-आगम और अर्थलिगज-अनुमान ।[38]

जैन तार्किको ने आगम की व्याख्या लौकिक और लोकोत्तर दोनो स्तरो पर की है । आप्त के वचन से होने वाला अर्थ-सवेदन आगम है । उपचार से आप्त-वचन भी आगम है । लोकोत्तर भूमिका मे अतीन्द्रियज्ञानी आप्त होता है और लौकिक भूमिका मे आप्त की कसौटी अविसवादित्व है । जो जिस विषय मे अविसवादी (अवचक) है वह उस विषय मे आप्त है ।[39]

जैन तर्क-परपरा मे ईश्वरीयज्ञान और ग्रन्थ की अपौरुषेयता इन दोनो को कोई स्थान नही है । उसमे मानवीयज्ञान और ग्रन्थ की मनुष्यकृतता—ये दोनो प्रतिष्ठित हैं । शब्द पौद्गलिक है पुद्गल का एक परिणमन है । पुद्गल का परिणमन होने के कारण वह अनित्य है । जब शब्द ही अनित्य है तब कोई भी शब्दात्मक ग्रन्थ नित्य कैसे हो सकता है ?

वैयाकरण मानते हैं कि वर्णध्वनि क्षणिक है । उससे अर्थबोध नही हो सकता । वर्ण से अतिरिक्त किन्तु वर्णाभिव्यग्य जो अर्थ-प्रत्यायक नित्य शब्द है वह स्फोट है । वर्णध्वनि से वह अभिव्यक्त होता है । उससे अर्थबोध होता है ।

---

35 न्यायावतार, श्लोक, 5,8,9 ।

36 (क) तत्वार्थ, सूत्र 1।13 ।
(ख) नदी, सूत्र 54 ।

37. न्यायविनिश्चय, श्लोक 473
सर्वमेतच्छ्रुतज्ञानमनुमान तथागम ।

38 गोमटसार (जीवकाण्ड), गाथा 315 ।

39 आप्तमीमासा, श्लोक 78, अष्टशती
यो यत्राविसवादक स तत्राप्त , तत परोऽनाप्त । तत्वप्रतिपादनमविसवाद ।

मीमासकों का मत है कि शब्द की कभी उत्पत्ति नही होती और उसका कभी विनाश नही होता। वह नित्य है। आवरण या व्यवधान के कारण वह हमे निरतर सुनाई नही देता। आवरण के दूर होने पर हम उसे सुन सकते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर उनका मानना है कि शब्द अभिव्यक्त होता है, उत्पन्न नही होता।

जैन परम्परा मे उक्त मत स्वीकृत नही है। उसके अनुसार शब्द उत्पन्न होता है। उसकी उत्पत्ति के दो कारण है सघात और भेद। दो वस्तुए परस्पर मिलती है या कोई वस्तु अलग होती है, टूटती है तब शब्द उत्पन्न होता है।[40] उसमे प्रतिपादन की शक्ति स्वाभाविक है। सकेत के द्वारा उसमे अर्थबोधकता आरोपित की जाती है। प्रत्येक शब्द मे प्रत्येक अर्थ का वाचक होने की क्षमता है। अमुक शब्द अमुक अर्थ का ही वाचक होता है इसका नियामक सकेत है। स्वाभाविक शक्ति और सकेत के द्वारा शब्द अर्थ का बोध कराता है। जिसे सकेत ज्ञात होता है वही व्यक्ति शब्द के द्वारा उसके वाच्य को समझ पाता है। अग्नि शब्द मे अग्नि अर्थ का सकेत आरोपित है। यदि वह सकेत मुझे ज्ञात है तो मैं अग्नि शब्द के वाच्य अग्नि अर्थ को समझ पाऊगा। जो भारतीय भाषा को नही जानता वह उसे नही समझ पाएगा। तर्जनी अगुली के हिलाने मे एक सकेत आरोपित है। उसे जानने वाला उसके हिलते ही तर्जना का अनुभव करने लग जाता है। यही बात शब्द के सकेत की है।

मीमासक मानते हैं कि शब्द का विषय केवल सामान्य है। गो शब्द गो व्यक्ति का नही, गोत्व सामान्य का वाचक है। सामान्य मे सकेत किया जा सकता है। असख्य विशेषो मे वह नही किया जा सकता। जैनदृष्टिकोण इससे भिन्न है। उसके अनुसार शब्द का विषय सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है। केवल सामान्य (जाति) अर्थक्रियाकारी नही हो सकता। घट, पट आदि व्यक्ति अर्थक्रियाकारी हो सकते है, किन्तु घटत्व या पटत्व अर्थक्रियाकारी नही हो सकते। समान परिणति वाले वाच्य-अर्थों के अनगिन होने पर भी सकेत का ग्रहण हो सकता है। अग्नि साध्य है और धूम साधन। वे असख्य हैं, फिर भी तर्क के द्वारा उन सबको जाना जा सकता है तब असख्य विशेषो से सबद्ध सकेत को क्यो नही जाना जा सकता? वस्तु का स्वरूप ही सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिए केवल सामान्य या केवल विशेष शब्द का वाच्य नही होता। सामान्य-विशेषात्मक वस्तु ही शब्द का वाच्य होती है।

40 ठाण 2/220

> दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाते सिया, त जहा साहण्णताण चेव पोग्गलाण सद्दुप्पाए सिया, भिज्जताण चेव पोग्गलाण सद्दुप्पाए सिया।

धूम और अग्नि मे जैसे व्याप्ति-सबंध है, वैसे शब्द और अर्थ मे व्याप्ति-सबंध नही है। उनमे भेदाभेद का संबंध है। यदि शब्द अर्थ से सर्वथा अभिन्न हो, उनमे तादात्म्य सबंध हो तो अग्नि अर्थ और अग्नि शब्द की क्रिया भिन्न नही हो सकती। फिर अग्नि शब्द के उच्चारणमात्र से दहन की क्रिया हो जाएगी। ऐसा नही होता, इसलिए जाना जाता है कि शब्द और अर्थ मे व्याप्ति-सबंध नही है। यदि शब्द अर्थ से सर्वथा भिन्न हो तो उनमे वाच्य-वाचक-सबंध नही हो सकता। घट शब्द से घट पदार्थ का बोध इसीलिए होता है कि शब्द के प्रतिपादन पर्याय और अर्थ के प्रतिपाद्य पर्याय मे एक सबंध स्थापित है।

घट शब्द से घट पदार्थ का ही बोध होता है, घट से भिन्न पदार्थ का बोध नही होता। इसका नियमन 'सकेत' करता है। शब्द और अर्थ का सबंध नैसर्गिक नही है। जिस अर्थ के लिए जिस शब्द का प्रयोग मनुष्य द्वारा निर्धारित किया जाता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक हो जाता है। इसलिए शब्द और अर्थ का संबंध ऐच्छिक है। इसीलिए विभिन्न भूखडो मे एक ही पदार्थ के अनेक शब्द वाचक है। यदि शब्द और अर्थ का संबंध नैसर्गिक होता तो ससार की एक ही भाषा होती और एक अर्थ के लिए स्वभावत एक ही वाचक होता।

सापेक्ष सिद्धान्त के आधार पर स्फोट की व्याख्या की जा सकती है। भाषा पौद्गलिक है। समूचे आकाश मडल मे भाषा-वर्गणा के पुद्गल-स्कध फैले हुए हैं और वे सदा फैले हुए रहते हैं। कोई भी मनुष्य बोलता है तो उन भाषा-वर्गणा के पुद्गल-स्कधो को ग्रहण किए बिना नही बोल सकता। हमारी बोलने की प्रक्रिया यह है कि हम सर्व प्रथम शारीरिक प्रयत्न के द्वारा भाषा-वर्गणा के पुद्गल-स्कधो को ग्रहण करते हैं, फिर उन्हें भाषा के रूप मे परिणत करते हैं और उसके बाद उनका विसर्जन करते हैं। यह विसर्जन का क्षण ही शब्द है और वही हमे सुनाई देता है। विसर्जन-क्षण से पहले शब्द अशब्द होता है और उस क्षण के बाद भी शब्द अशब्द हो जाता है। विसर्जन-क्षण मे होने वाली वर्णध्वनि क्षणिक और अनित्य होती है। भाषा-वर्गणा के पुद्गल-स्कधो को सतति-प्रवाहरूप मे नित्य माना जा सकता है और उनकी स्फोट से तुलना की जा सकती है।

स्मृति मे सस्कार, प्रत्यभिज्ञा मे एकत्व और सादृश्य, तर्क मे अविनाभाव संबंध और आगम मे अभिधेय-अर्थ परोक्ष होते हैं, इसलिए ये सब परोक्ष प्रमाण के अवान्तर विभाग हैं।

• • •

1 अवग्रह से अनुमान तक कार्य-कारण का सबंध प्रतीत होता है। फिर धारणा को प्रत्यक्ष और स्मृति आदि को परोक्ष मानने का क्या कारण है ?

प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग स्पष्टता (वैशद्य) और अस्पष्टता (अवैशद्य) के आधार पर किया गया है। अवग्रह से धारणा तक चलने वाली ज्ञानधारा स्पष्ट है, इसलिए वह प्रत्यक्ष की कोटि मे स्वीकृत है। स्मृति से अनुमान तक की ज्ञानधारा मे ज्ञेय-विषय स्पष्ट नही होता, इसलिए वह परोक्ष की कोटि मे स्वीकृत है।

2 प्रत्यभिज्ञा मे ज्ञेय-अर्थ प्रत्यक्ष होता है, फिर उसे परोक्ष क्यो माना जाए ?

अनुमान मे धूम प्रत्यक्ष होता है, किन्तु उसका ज्ञेय धूम नही है। उसका ज्ञेय अग्नि है, जो प्रत्यक्ष नही है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा का ज्ञेय सामने उपस्थित वस्तु या व्यक्ति नही है किन्तु उनके अतीत और वर्तमान पर्यायो मे होने वाला एकत्व है, जो कि प्रत्यक्ष का विषय नही बनता।

3 ईहा का कार्य भी अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा उपलब्ध अर्थ की परीक्षा करना है तब ईहा और तर्क को भिन्न क्यो माना जाए ?

ईहा पर्यालोचनात्मक ज्ञान है। उसके द्वारा वस्तु मे पाए जाने वाले अन्वय और व्यतिरेक धर्म पर्यालोचित होते हैं। उनके आधार पर अर्थ के स्वरूप की सभावना की जाती है। तर्क का कार्य है- व्याप्ति की परीक्षा करना। इसलिए दोनो का कार्य एक नही है। यद्यपि ईहा और तर्क दोनो के लिए 'ऊह' शब्द का प्रयोग मिलता है, फिर भी दोनो के 'ऊह' का स्वरूप एक नही है।

4 निर्णायक ज्ञान अवाय होता है, फिर अवग्रह और ईहा को प्रमाण कैसे माना जा सकता है ?

एक सिकोरा है जो अभी-अभी आवे से निकाला गया है। उस पर जल की एक बूद डाली। वह सूख गई। फिर दो-चार बूदे डाली वे भी सूख गईं। बूदें डालने का क्रम चालू रहा। एक क्षण ऐसा आया कि सिकोरा गीला हो गया। क्या सिकोरा अन्तिम बूद से गीला हुआ ? पहली बूद से वह गीला नही हुआ ? हम केवल निष्पत्तिकाल को ही गीला होने का क्षण नही कह सकते। आरभ काल भी उसके गीला होने का क्षण है। यदि सिकोरा पहली बूद से गीला न हो वह अतिम बूद से भी गीला नही होगा। अवग्रह के पहले क्षण मे यदि निर्णय होना प्रारभ न हो तो अवाय मे भी निर्णय नही हो सकता। अवाय एक धारागत निर्णयो की निष्पत्ति है, इसलिए स्थूल भाषा मे हम कहते हैं कि अवाय मे निर्णय होता है। यदि सूक्ष्म भाषा का प्रयोग करें तो अवग्रह और ईहा भी अपने-अपने ज्ञेय-पर्यायो के निर्णायक है।

: 7 :

अनुमान

अनुमान न्यायशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका परिवार बहुत बडा है। इसी के आधार पर तर्क-विद्या या आन्वीक्षिकी का विकास हुआ है। अनुमान शब्द 'अनु' और 'मान' इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। इनका अर्थ है प्रत्यक्ष-पूर्वक होने वाला ज्ञान। जैन आगमों के अनुसार श्रुत मतिपूर्वक होता है 'मइपुव्वय सुय'। न्यायदर्शन में भी अनुमान को प्रत्यक्षपूर्वक माना गया है।[1]

अनुमान के दो अंग होते हैं साधन और साध्य। साधन प्रत्यक्ष होता है और साध्य परोक्ष। हम पहले साधन को देखते है, फिर व्याप्ति की स्मृति करते हैं, उसके बाद साध्य का ज्ञान करते हैं।

अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जैन परंपरा में समग्रज्ञान स्वार्थ और परार्थ इन दो भागों में विभक्त है। सूत्रकृतांग में ज्ञान के दो साधन बतलाए गए हैं/आत्मत और परत।[2] आत्मगत ज्ञान स्वार्थ और वचनात्मक ज्ञान परार्थ होता है। चार ज्ञान केवल स्वार्थ होते हैं, श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों होता है। वस्तुत ज्ञान परार्थ नहीं होता। वचन में ज्ञान का आरोपण कर उसे परार्थ माना जाता है। ज्ञान और वचन में तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध नहीं है। वचन एक व्यक्ति के ज्ञान को दूसरे व्यक्ति तक संप्रेषित करता है, इसलिए उपचार से उसे ज्ञान मानकर परार्थ कहा जाता है। वस्तुत वचन ही परार्थ होता है, न कि ज्ञान। ज्ञान के विषय में स्वार्थ और परार्थ की धारणा प्राचीन काल से है, किन्तु अनुमान के ये दो विभाग— स्वार्थ और परार्थ नैयायिक और बौद्ध परंपरा से गृहीत हैं। आचार्य सिद्धसेन ने अनुमान की भांति प्रत्यक्ष को भी परार्थ माना है। उन्होंने लिखा है—'प्रसिद्ध अर्थ का प्रकाशन प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से होता है और वे दोनों ही दूसरे के लिए ज्ञान के उपाय हैं,

1 न्यायसूत्र, 1।1।5
तत्पूर्वकम्।

2 सूयगडो, 12।19
जे आततो परतो वा वि णच्चा।

इसलिए वे दोनो ही परार्थ होते हैं।'[3] वादिदेवसूरी ने भी इस सिद्धसेनीय मत का अनुसरण किया है।[4] अनुमान द्वारा ज्ञात अर्थ का वचनात्मक निरूपण जैसे परार्थानुमान है वैसे ही प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात अर्थ का वचनात्मक निरूपण परार्थ प्रत्यक्ष है। साधन से होने वाला साध्य का विज्ञान स्वार्थानुमान है। जैसे किसी ने धूम देखा और दूर देश मे स्थित अग्नि का ज्ञान हो गया। इस ज्ञान मे पक्ष और दृष्टान्त की आवश्यकता नही है। दूसरे को समझाने के लिए पक्ष और हेतु का वचनात्मक प्रयोग करना परार्थानुमान है। जैसे कोई व्यक्ति दूसरे से कहता है कि देखो उस नदी के किनारे अग्नि है, क्योकि वहा धूम दिखाई दे रहा है। यह सुनकर श्रोता के भी स्वार्थानुमान हो जाता है। प्रमाण ज्ञानात्मक होता है और परार्थानुमान शब्दात्मक है। शब्दात्मक होने के कारण वह प्रमाण नही हो सकता। इसीलिए यह उपचारतं प्रमाणरूप मे स्वीकृत है। परार्थानुमान स्वार्थानुमान का कारण है। कारण को उपचार से कार्य मानकर परार्थानुमान को प्रमाण माना जाता है।

न्याय दर्शन मे अनुमान के तीन प्रकार मिलते है पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।[5] साख्यशास्त्र[6] और चरक[7] मे भी ये ही तीन प्रकार प्राप्त हैं। आर्यरक्षितसूरी ने भी अनुमान के ये तीन प्रकार थोडे मे नामभेद के साथ स्वीकृत किए है पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत्।[8] बौद्ध न्यायशास्त्र के विकास के बाद इन तीनो प्रकारो की परपरा गौण हो गई।

जैन परपरा मे अनुमान का लक्षण सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन ने किया।[9] उसका सभी जैन तार्किक अनुसरण करते रहे है।

3 न्यायावतार, श्लोक 11

प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्व द्वयोरपि॥

4 प्रमाणनयतत्त्वालोक, 3126,27।

5 न्यायसूत्र, 1115

पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्ट च।

6 साख्यकारिका, 5, माठरवृत्ति।

7 चरक, सूत्रस्थान, श्लोक 28,29।

8 अणुओगद्दाराइ, सूत्र 519।

9 न्यायावतार, श्लोक 5

साध्याविनाभुवो लिङ्गात्, साध्यनिश्चायक स्मृतम्।
अनुमान तदभ्रान्त, प्रमाणत्वात् सपक्षवत्॥

हेतु

आचार्य वसुबन्धु ने हेतु को त्रैरूप्य माना और दिङ्नाग ने उसका विकास किया। उनके अनुसार हेतु मे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व ये तीन लक्षण पाए जाते हैं

1 पक्षधर्मत्व हेतु पक्ष मे होना चाहिए।

2 सपक्षसत्व हेतु सपक्ष अन्वय दृष्टान्त मे होना चाहिए।

3 विपक्षासत्व हेतु विपक्ष मे नही होना चाहिए।

जैनतार्किको ने हेतु के इस त्रैरूप्य लक्षण का निरसन किया। उन्होने 'अन्यथानुपपत्ति' या 'अविनाभाव' को ही एकमात्र हेतु का लक्षण माना।[10] स्वामी पात्रकेसरी ने 'त्रिलक्षणकदर्शन' ग्रन्थ मे हेतु के त्रैरूप्य का निरसन कर अन्यथानुपपत्ति लक्षण हेतु का समर्थन किया। उनका प्रसिद्ध श्लोक है।

'अन्यथानुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ?
नान्यथानुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ?

जहा अन्यथा-अनुपपत्ति है वहा हेतु को त्रैरूप्यलक्षण मानने से क्या लाभ ? जहा अन्यथा—अनुपपत्ति नही है वहा हेतु को त्रैरूप्यलक्षण मानने से क्या लाभ ?

हेतु के लिए पक्षधर्मत्व आवश्यक नही है। रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्योकि कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो चुका है। इस हेतु मे पक्षधर्मत्व नही है। कृत्तिका के उदय और महूर्त्त के पश्चात् होने वाले रोहिणी के उदय मे अविनाभाव है, पर कृत्तिका का उदय 'रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा' इस पक्ष मे नही है। अत- पक्षधर्मत्व हेतु का अनिवार्य लक्षण नही है।

'शब्द अनित्य है क्योकि वह श्रावण है श्रोत्र का विषय है इस अनुमान मे कोई सपक्ष नही है। जो-जो सुनाई देता है वह सारा का सारा शब्द है, इसलिए सपक्ष को कोई अवकाश ही नही है। सुनाई देने के कारण शब्द अनित्य है और जो सुनाई देता है वह शब्द है—इसमे शब्द और श्रावणत्व की अन्तर्व्याप्ति है। इसका कोई दृष्टान्त या समान पक्ष नही हो सकता। बहिर्व्याप्ति मे सपक्ष हो सकता है और उसका उपयोग इसलिए किया जाता है कि किसी दृष्टान्त के माध्यम से हेतु का अविनाभाव बताया जा सके, किन्तु उस बहिर्व्याप्ति (दृष्टान्त या सपक्ष) के आधार पर हेतु गमक नही होता।

---

10 न्यायावतार, श्लोक 21 :
अन्यथानुपपन्नत्व हेतोर्लक्षणमीरितम्।

'सब कुछ क्षणिक है क्योंकि सत् है' इस हेतु का सपक्ष नही हो सकता। बौद्धो के अनुसार अक्षणिक कुछ भी नही है तब सपक्ष कैसे होगा? यह प्रदेश अग्निमान् है क्योकि धूम है, जैसे रसोई घर। इस बहिर्व्याप्ति मे सपक्ष हो सकता है। धूम जैसे निर्दिष्ट प्रदेश मे है वैसे ही रसोई घर मे भी है। अन्तर्व्याप्ति मे समग्र वस्तु का समाहार हो जाता है, शेष कुछ बचता ही नही। इसलिए 'सपक्षसत्त्व' हेतु का लक्षण नही हो सकता।

विपक्ष मे हेतु का असत्त्व होना ही अन्यथानुपपत्ति है। यही हेतु का एक मात्र लक्षण है। जैन तर्क-परपरा मे यह लक्षण सबके द्वारा समर्थित और मान्य रहा है।

हेतु के प्रकार :

जैन तर्क-परपरा मे अविनाभाव का सबध केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही नही है। अविनाभाव के दो रूप हैं सहभाव और क्रमभाव। सहभाव तादात्म्य-मूलक भी होता है और तादात्म्य के विना भी होता है। इसी प्रकार क्रमभाव कार्य-कारणभावमूलक भी होता है और कार्य-कारणभाव के विना भी होता है। अविनाभाव के इस व्यापक स्वरूप के आधार पर हेतु के स्वभाव, व्याप्य, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर ये आठ विकल्प माने गए। इनमे कुछ उपलब्धि हेतु हैं और कुछ अनुपलब्धि हेतु। उपलब्धि हेतु विधि और प्रतिषेध (भाव और अभाव) दोनो को सिद्ध करते हैं। अनुपलब्धि हेतु भी उन दोनो को सिद्ध करते हैं। इनकी विस्तृत चर्चा के लिए 'प्रमाणनयतत्त्वालोक 3154–109, या 'भिक्षुन्यायकर्णिका (परिशिष्ट पहला) द्रष्टव्य है'।

अवयव–प्रयोग

जैन आचार्यों ने प्रत्येक विषय पर अनेकान्तदृष्टि से विचार किया है। नय के विषय मे उनका दृष्टिकोण है कि श्रोता की योग्यता के अनुसार नयो का प्रतिपादन करना चाहिए। अवयव-प्रयोग के विषय मे भी उनका यही दृष्टिकोण है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल मे उदाहरण या दृष्टान्त का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता था। प्रवुद्ध श्रोता के लिए हेतु का भी प्रयोग मान्य था। निर्युक्तिकार भद्र-वाहु ने लिखा है जिन-वचन स्वयसिद्ध है, फिर भी उसे समझाने के लिए अपरिणत श्रोता के लिए उदाहरण का प्रयोग करना चाहिए। श्रोता यदि अपरिणत हो तो हेतु का प्रयोग भी किया जा सकता है।[11]

11. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 49

जिणवयण सिद्ध चेव, भण्णए कत्थई उदाहरण।
आसज्ज उ सोयार, हेऊवि कहिचि भण्णेज्जा॥

निर्युक्तिकार ने पांच तथा दस अवयवों के प्रयोग का भी निर्देश किया है ।[12] इस प्रकार निर्युक्तिकार ने अवयव-प्रयोग के पांच विकल्प निर्दिष्ट किए हैं

अवयव

2	3	5	10	10
प्रतिज्ञा	* प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा
उदाहरण	* हेतु	हेतु	प्रतिज्ञाविशुद्धि	प्रतिज्ञाविभक्ति
	* उदाहरण	दृष्टान्त	हेतु	हेतु
		उपसंहार	हेतुविशुद्धि	हेतुविभक्ति
		निगमन	दृष्टान्त	विपक्ष
			दृष्टान्तविशुद्धि	प्रतिषेध
			उपसंहार	दृष्टान्त
			उपसंहारविशुद्धि	आशंका
			निगमन	तत्प्रतिषेध
			निगमनविशुद्धि	निगमन

सिद्धसेन ने पक्ष, हेतु और दृष्टान्त—इन तीन अवयवों के प्रयोग की चर्चा की है । सामान्यत प्राय सभी तार्किकों ने स्वार्थानुमान में प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों का तथा परार्थानुमान में उन दो के अतिरिक्त मन्दमति को व्युत्पन्न करने के लिए दृष्टान्त, उपनय और निगमन का भी प्रयोग स्वीकृत किया है । वादिदेवसूरी ने बौद्धों की भांति केवल हेतु के प्रयोग का भी समर्थन किया है ।

साध्य की सिद्धि के लिए उस (साध्य) का निर्देश करना प्रतिज्ञा है, जैसे पर्वत अग्निमान् है ।

साध्य की सिद्धि के लिए साधन का निर्देश करना हेतु है, जैसे क्योंकि वहां धूम है ।

साध्य के समान किसी प्रदेश का निर्देश करना दृष्टान्त या उदाहरण है जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है, जैसे– रसोईघर ।

साधन-धर्म का साध्य-धर्मी में उपसंहार करना उपनय या उपसंहार है, जैसे—पर्वत धूमयुक्त है ।

12 दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 50

कत्थइ पंचावयवं दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं ।
न च पुण सव्वं भण्णइ हंदी सविआरमक्खायं ॥

साध्य-कोटि की प्रतिज्ञा साधन के द्वारा सिद्ध-कोटि मे आ जाती है, वह निगमन है, जैसे इसलिए पर्वत अग्निमान् है ।

नैयायिक इस पचावयव-प्रयोग को स्वीकार करते है । उनके अनुसार इस अवयवप्रयोगात्मक अनुमान को पचावयव वाक्य, महावाक्य अथवा न्यायप्रयोग कहा जाता है ।

× × ×

1 हम जानना चाहते हैं कि सख्या के विषय मे जैन परम्परा का अभिमत क्या है ?

कुछ विचारक जैन दर्शन को परमसाख्य कहते हैं । जैनो का तत्त्वचिन्तन सख्या-प्रधान रहा है, इसलिए यह कहा भी जा सकता है । आगमसाहित्य चार भागो मे विभक्त है

1 द्रव्यानुयोग –द्रव्यमीमासा, दर्शन ।
2 चरणानुयोग आचारमीमासा ।
3 धर्मकथानुयोग दृष्टान्त, उपमा और उदाहरण ।
4 गणितानुयोग गणितशास्त्र ।

द्रव्यमीमासा और कर्मशास्त्र मे गणित का बहुत उपयोग किया गया है । पदार्थ को जानने के चौदह उपाय निर्दिष्ट हैं [13]

1 निर्देश नाम निर्देश, स्वरूप निश्चय ।
2 स्वामित्व अधिकारी ।
3 साधन कारण ।
4 अधिकरण आधार ।
5 स्थिति काल-मर्यादा ।
6 विधान प्रकार ।
7 सत् अस्तित्व, सद्भाव ।
8 सख्या—गणना, पदार्थ के परिमाण की उपलब्धि का भेदलक्षण वाला साधन ।
9 क्षेत्र आश्रयस्थान ।
10 स्पर्शन पार्श्ववर्ती आकाश-प्रदेशो का स्पर्श ।
11 काल अवधि ।
12 अन्तर दो अवस्थाओ का मध्यवर्ती अन्तराल ।

13 तत्त्वार्थ सूत्र, 1/7, 8 ।

13 भाव परिणति का प्रकार ।

14 अल्प-बहुत्व—तुलनात्मकदृष्टि से अल्पता या अधिकता

उक्त चौदह उपायो मे सख्या आठवा उपाय है। उसके द्वारा परिमाण का निर्धारण किया जाता है। वह पदार्थ की व्याख्या का एक आवश्यक अग है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे पर्याय के छह लक्षण प्रतिपादित है [14]

1 एकत्व सदृश परिणति ।

2 पृथक्त्व विसदृश परिणति ।

3 सख्या एक, दो आदि व्यवहार का हेतु ।

4 सस्थान आकृति ।

5 सयोग दो पदार्थो का वाह्य सबध ।

6 विभाग दो सयुक्त पदार्थो का अलगाव ।

द्रव्य गुण-पर्यायात्मक होता है। गुण उसके स्वभावभूत होते हैं। उनकी प्रतीति पर-निरपेक्ष होती है। पर्याय उसके क्रमभावी धर्म हैं। उनकी प्रतीति पर-सापेक्ष होती है। अल्प-बहुत, ऊचा-नीचा, दूर-निकट, दो-तीन आदि सख्या ये सब पर्याय दूसरे पदार्थो की अपेक्षा से अभिव्यक्त होते हैं, इसलिए ये पर-सापेक्ष हैं।

सख्या द्रव्य का आपेक्षिक पर्याय है। वह ज्ञाता के ज्ञान पर निर्भर नही है। जिसका अस्तित्व स्वतत्र (ज्ञाता-निरपेक्ष) होता है वह किसी के जानने से निर्मित नही होता और न जानने से समाप्त नही होता। जॉन लॉक (1632–1704) ने दो प्रकार के गुण माने हैं—मूलगुण (Primary Qualities) और उपगुण (Secondary Qualities)। मूलगुण द्रव्यो के वास्तविक धर्म हैं। उपगुण द्रव्यो के वास्तविक धर्म नही हैं। वे आत्मा के सवेदनमात्र हैं। द्रव्यो का घनत्व (Solidity), विस्तार (Extension), आकार (Shape), गति (Motion), स्थिति (Rest) और सख्या (Number) ये एकाधिक इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त होने के कारण मूलगुण है—द्रव्यगत वास्तविकताए है। इन्द्रियो का इन मूलगुणो से सम्पर्क होता है तब वे हमारी आत्मा मे सवेदन उत्पन्न करते है। ह्यूम ने मानवज्ञान को दो कोटियो मे विभक्त किया है—

1 विज्ञानो के पारस्परिक सम्बन्धो का ज्ञान Knowledge of the relations of the ideas

2 वस्तु-जगत् का ज्ञान Knowledge of the Matters of fact

14 उत्तरज्झयणाणि, 28/13

एगत्त च पुहत्त च, सख्या सठाणमेव य ।
सजोगा य विभागा य, पज्जवाण तु लक्खण ॥

गणितशास्त्र और तर्कशास्त्र मे विज्ञानो के पारस्परिक सम्बन्धो का ज्ञान होता है, इसलिए गणित और तर्क मे सार्वभौम और अनिवार्य सिद्धान्तो की कल्पना की जा सकती है। दो और दो चार ही होते है यह केवल कल्पना है। इसका वस्तु-जगत् से कोई सम्बन्ध नही है। लॉक और ह्यूम ये दोनो अनुभववादी (Idealistic) दार्शनिक हैं। नव-वास्तविकतावादी (New realistic) दार्शनिको के अनुसार सख्यावोध प्रत्यय-जनित नही है। वह प्रत्यक्ष से होता है। दो और दो चार होते हैं यह अभिगम अपने अस्तित्व के लिए किसी समय और क्षेत्र पर आधृत नही है, किन्तु समयो और क्षेत्रो की अपेक्षा के विना ही सत्य है। इस अभिगम के द्वारा जो सत्य प्रतिपादित होता है वह वास्तविक सत्य है। वह सीधे (प्रत्यक्ष) ही जाना जाता हैं और सीधे ही चैतन्य की अनुभूति मे आता है, किसी प्रत्यय के द्वारा नही। वास्तविकतावादी विचार के अनुसार तर्क और गणित के अभिगम अपना स्वतत्र (ज्ञाता-निरपेक्ष) अस्तित्व रखते हैं और वैज्ञानिक सिद्धान्तो को आविष्कृत करते है, वनाते नही। इस सिद्धान्त से इस विचारधारा को आधार मिला है कि वैज्ञानिक जव फॉरमुलाओ, समीकरणो और निगमन—विश्लेषणो द्वारा कार्य करते हैं, तव वे वास्तविकता के वारे मे ही काम करते है।

जैन दर्शन की स्वीकृति अनुभववाद और वस्तुवाद इन दोनो से भिन्न है। उसके अनुसार सख्या कल्पना नही है, वह वस्तु का एक पर्याय है। उसका वोध न केवल प्रत्यय से होता है और न केवल प्रत्यक्ष से होता है, किन्तु प्रत्यय और प्रत्यक्ष के सकलन प्रत्यभिज्ञा से होता है। जितने सवधात्मक, तुलनात्मक और सापेक्षज्ञान होते हैं, वे सारे उसीके द्वारा होते हैं। वह प्रत्यक्ष और स्मृति—इन दोनो के योग से उत्पन्न होता है, इसलिए सापेक्षवोध उसका विषय वनता है। किसी वडी रेखा को ध्यान मे रखकर हम दूसरी रेखा को छोटा कहते हैं। केवल एक रेखा वडी या छोटी नही हो सकती। छोटा और वडा यह दो मे ही होता है। पूर्वज्ञान की स्मृति और वर्तमान का प्रत्यक्षज्ञान ये दोनो मिलकर ही उन दो अवस्थाओ (छुटपन, वडपन) का वोध करते है। दो रेखाए प्रत्यक्ष होती हैं। उनके तुलनात्मक ज्ञान मे भी पूर्वदृष्ट का ज्ञान परोक्ष होता है। दोनो रेखाओ को तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तव किसी एक रेखा की ओर अभिमुख होते ही दूसरी का ज्ञान परोक्ष हो जाता है। सख्या का ज्ञान भी इसी पद्धति से होता है। हमने देखा घट है, फिर देखा घट है, तव हम इन दोनो घट-ज्ञानो का सकलन करते हैं दो घट हैं। यह द्वित्व पर्याय सापेक्ष है। दो वस्तुओ की अपेक्षा मे ही यह पर्याय अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार अनेकत्वसूचक सख्या के जितने प्रकार हैं वे सव सापेक्ष ही हैं। दो और दो चार होते हैं—यह प्राथमिक वोध प्रत्यक्ष होता है, फिर यह सस्कार वन जाता है। दो युगलो का प्रत्यक्ष होते ही सस्कार जागृत होकर स्मृति का रूप लेता है और दो और दो चार होते हैं,

इसका बोध हो जाता है। पूर्व का निरीक्षण और अपर का निरीक्षण ये दो निरीक्षण अपेक्षाबुद्धि को उत्पन्न करते हैं और उससे संख्या की प्रतिपत्ति होती है।[15]

आगम-साहित्य में प्रमाण का विशद वर्गीकरण मिलता है। अनुयोगद्वार में प्रमाण के चार प्रकार वर्णित हैं—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण। भावप्रमाण के तीन प्रकार हैं गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण।[16] आचार्य अकलंक ने संख्या और उपमा को एक कोटिक प्रमाण माना है।[17] द्रव्यों और गुणों में जो संख्यारूप धर्म पाया जाता है उसे जयधवला में संख्याप्रमाण कहा गया है।[18] आगमयुग में संख्याप्रमाण और उपमाप्रमाण स्वतंत्र थे। प्रमाण-व्यवस्थायुग में उन्हें प्रत्यभिज्ञा के अन्तर्गत स्थापित किया गया।

□ □ □

15 सिद्धिविनिश्चय, पृष्ठ 150

संख्यादिप्रतिपत्तिश्च, पूर्वापरनिरीक्षणात्।

16 विस्तार के लिए देखें परिशिष्ट 1।

17 तत्त्वार्थवार्त्तिक, 3/38।

18 कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 38।

. 8

अविनाभाव

अनुमान हेतुमूलक होता है और हेतु अविनाभावमूलक। इसलिए अनुमान का प्रधान अग हेतु है और हेतु का प्रधान अग अविनाभाव है। इस अविनाभाव को व्याप्ति, सवध या प्रतिबन्ध भी कहा जाता है। हम अविनाभाव के आधार पर सार्वभौम नियमो का निर्धारण करते हैं। उन्ही के आधार पर हेतु गमक होता है।

अविनाभाव के आधार ये हैं

1. तादात्म्य,
2 तदुत्पत्ति,
3 सहभाव,
4 क्रमभाव।

तादात्म्य सम्बन्ध उनमे होता है जो सहभावी होते है हेतु और साध्य, अस्तित्व की दृष्टि से, अभिन्न होते हैं, जैसे यह वृक्ष है, क्योकि यह अशोक है। इस वाक्य मे वृक्ष साध्य है। अशोक है यह हेतु है। इसमे साध्य हेतु की सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नही रखता, इसलिए यह 'स्वभाव हेतु' है। अशोकत्व और वृक्षत्व मे नियत सहभाव है, इसलिए यह तादात्म्यमूलक अविनाभाव है। 'व्यापक' हेतु भी तादात्म्यमूलक होता है। जैसे इस प्रदेश मे पनस नही है, क्योकि वृक्ष नही है। इस वाक्य मे पनस व्याप्य है और वृक्ष व्यापक। व्याप्य का व्यापक के साथ नियत सहभाव होता है। जहा वृक्षत्व नही होता वहा पनसत्व नही होता—इस अविनाभाव के आधार पर 'व्यापक' हेतु बनता है।

धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अन्य किसी से उत्पन्न नही होता। इस तदुत्पत्ति के आधार पर धूम का अग्नि के साथ कार्यकारणमूलक अविनाभाव सवध है। अग्नि कारण है और धूम कार्य। इसलिए धूम अग्नि का गमक होता है।

सहभाव तादात्म्यमूलक ही नही होता, जिनमे तादात्म्य नही होता उनमे भी सहभाव होता है। इस आधार पर सहचर हेतु बनता है। रूप और रस दोनो सहचर हैं। रूप चक्षुग्राह्य होता है और रस जिह्वाग्राह्य। इस स्वरूप भेद के कारण उनमे तादात्म्य सवध नही है। उनमे तादात्म्य सवध नही है इसलिए वे स्वभाव हेतु नही हो सकते। रूप और रस एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ उत्पन्न

होने वालो मे कार्यकारणमूलक सवध नही होता, इसलिए वे कार्यकारण हेतु नही वन सकते। रूप रस का और रस रूप का, नियत साहचर्य के आधार पर, गमक होता है, इसलिए सहचर हेतु की स्वीकृति में कोई विप्रतिपत्ति नही है। जैसे कोई मनुष्य अधेरे मे आम चूस रहा है। वह उस रसास्वाद के आधार पर यह जान लेता है कि इस आम मे रूप है, क्योकि जहा रस होता है वहा रूप होता ही है।

क्रमभाव कार्यकारणमूलक ही नही होता, जिनमे कार्यकारणात्मक सवध नही होता उनमे भी क्रमभाव होता है। इस आधार पर पूर्वचर और उत्तरचर हेतु वनते हैं। मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय होगा, क्योकि इस समय कृत्तिका उदित है। मुहूर्त पहले पूर्वफाल्गुनी का उदय हो चुका है, क्योकि इस समय उत्तरा-फाल्गुनी उदित है।

पूर्वचर और उत्तरचर मे समय का व्यवधान होता है, इसलिए ये स्वभावहेतु और कार्यहेतु नही हो सकते। तादात्म्य सबध समकालीन वस्तुओ मे होता है और तदुत्पत्ति सबध अव्यवहित पूर्वोत्तर-क्षणवर्ती पदार्थों मे होता है। इस प्रकार उन दोनो मे समय का व्यवधान नही होता।

जहा समय का व्यवधान होता है वहा कार्यहेतु नही होता। इसीलिए पूर्वचर और उत्तरचर मे क्रमभाव होने पर भी उन्हे कार्यहेतु की कोटि मे नही रखा जा सकता। कारण वही होता है जो कार्य की उत्पत्ति मे व्यापृत है। कुभकार घट की उत्पत्ति मे व्यापृत होता है तब उसे घट का कारण माना जाता है। कार्य के प्रति व्यापृत वही होता है जो विद्यमान होता है। जो नष्ट हो चुका है अथवा जो अभी उत्पन्न ही नही हुआ है वह असत् है। असत् किसी कार्य की उत्पत्ति मे व्यापृत नही होता। जो कार्य की उत्पत्ति मे व्यापृत नही होता उसे कारण नही माना जा सकता। मुहूर्त के पश्चात् होने वाला रोहिणी का उदय अनागत होने के कारण असत् है तथा मुहूर्त पूर्व उदित पूर्वा-फाल्गुनी अतीत होने के कारण असत् है। इसलिए कृत्तिका को रोहिणी का और पूर्वा-फाल्गुनी को उत्तरा-फाल्गुनी का कारण नही माना जा सकता। कृत्तिका के पश्चात् रोहिणी के उदय का क्रम नियत है तथा उत्तरा-फाल्गुनी के पहले पूर्वा-फाल्गुनी का उदय नियत है। उनके क्रम मे कोई नियमभग नही है, इसलिए पूर्वचर और उत्तरचर—दोनो गमक हैं और जो गमक होता है उसे हेतु मानने मे कोई विप्रतिपत्ति नही होती।

वौद्ध मानते हैं कि स्वभाव और कार्य मे ही तादात्म्य और तदुत्पत्ति रहती है और उसीके आधार पर ज्ञाप्य और ज्ञापक का सम्वन्ध होता है, इसलिए उन्ही कार्य और स्वभाव से वस्तु अर्थात् विधि की सिद्धि होती है। इस प्रकार वे विधि-साधक हेतु दो ही मानते हैं—स्वभावहेतु और कार्यहेतु। उनके अनुसार कार्य कारण

के बिना नही हो सकता, इसलिए कार्य का कारण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। कार्य कारण के बिना भी होता है, इसलिए कारण का कार्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नही है। कारण का कार्य के साथ अविनाभाव नही है, इसीलिए कारण हेतु नही बन सकता।

कारणहेतु के समर्थन मे जैन परम्परा का तर्क यह है प्रत्येक कारण हेतु नही होता। किन्तु वह कारण हेतु अवश्य होता है जिसकी शक्ति प्रतिबन्धक तत्त्वो से प्रतिबन्धित न हो और जिसकी सहकारी सामग्री विद्यमान हो। अप्रतिबधित शक्ति और सहकारी सामग्री से युक्त कारण कार्य को अवश्य उत्पन्न करता है, इसलिए इस प्रकार के कारण का कार्य के साथ अविनाभाव होता है। अधेरी रात मे आम चूसने वाला व्यक्ति रस को उत्पन्न करने वाली सामग्री का अनुमान करता है। जो रस चूसा जा रहा है वह कार्य है। वह पूर्वक्षणवर्ती रस और रूप के द्वारा उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह उत्तरक्षणवर्ती रस-विज्ञान का कारण है। यह कार्य से कारण का अनुमान है। आम चूसने वाला उस पूर्वक्षणवर्ती रूप से वर्तमान क्षणवर्ती रूप का अनुमान करता है। यह कारण से कार्य का अनुमान है। बौद्धमतानुसार पूर्व-क्षणवर्ती रस, रूप आदि मिलकर ही उत्तरक्षणवर्ती रस उत्पन्न करते हैं। पूर्वक्षण-वर्ती रस उत्तरक्षणवर्ती रस का उपादान कारण होता है और रूप सहकारी कारण। इस प्रकार पूर्वक्षणवर्ती रूप से जो उत्तरक्षणवर्ती रूप का अनुमान किया जाता है वह कारण से कार्य का अनुमान है।

अविनाभाव (व्याप्ति) को जानने का उपाय

अविनाभाव के लिए त्रैकालिक अनिवार्यता अपेक्षित है। अनिवार्यता की त्रैकालिकता का बोध हुए बिना अविनाभाव का नियम निर्धारित नही किया जा सकता। नैयायिक मानते हैं कि भूयो दर्शन से अविनाभाव का बोध होता है। बार-बार दो वस्तुओ का साहचर्य देखते हैं तब उस साहचर्य के आधार पर नियम का निर्धारण कर लेते हैं। नियम का आधार केवल साहचर्य ही नही होता, किन्तु व्यभिचार (अपवाद) का अभाव भी होना चाहिए। इस प्रकार व्याप्तिज्ञान के लिए दो विषयो का ज्ञान आवश्यक है साहचर्य का ज्ञान तथा व्यभिचारज्ञान का अभाव। धूम के साथ अग्नि का साहचर्य है और धूम के साथ अग्नि का व्यभिचार कही भी प्राप्त नही है, अत अव्यभिचारी साहचर्य-सम्बन्ध के ज्ञान से व्याप्ति का बोध होता है।

डार्विन तथा उसके अनुगामी विकासवादी वैज्ञानिको ने माना है कि यद्यपि प्रकृति नियमबद्ध चलती है, फिर भी कभी-कभी और कही-कही उत्प्लवन भी होता है, छलाग भी होती है। इस प्लुतसचारवाद के अनुसार सामान्य नियम का अतिक्रमण भी होता है। हम इन्द्रियज्ञान के द्वारा विशेषो को जान लेते हैं, पर विशेषो मे

सामान्य विषयक सूत्रो को खोजना और उनमे अनिवार्यता का पता लगाना बहुत कठिन है। त्रैकालिकता का प्रश्न और भी टेढा है। अविनाभाव तब बनता है जब त्रैकालिक अव्यभिचार हो किसी भी देश-काल मे उसका अपवाद न हो। वर्तमान मे साहचर्य के अव्यभिचार को जाना जा सकता है। स्मृति की परिधि मे रहे हुए अतीत मे भी जाना जा सकता है। किन्तु स्मृति की परिधि से मुक्त अतीत मे और अनन्त भविष्य मे साहचर्य का नियम नही ही बदलेगा— इसका नियमन कैसे किया जा सकता है ? इसलिए अविनाभाव के नियम के साथ जुडी हुई त्रैकालिकता की शर्त अवश्य ही परीक्षा की कसौटी पर कसने योग्य है। हम नियम की सरचना उपलब्ध ज्ञान-सामग्री के आधार पर करते हैं। अनुपलब्ध ज्ञान उपलब्ध ज्ञान से बहुत विशाल है, फिर हम अविनाभाव के नियम को निरपेक्ष कैसे मान सकते हैं ? अविना-भाव का नियम उपलब्ध ज्ञान-सापेक्ष ही होना चाहिए। जैन तार्किको ने भी अविनाभाव के नियम का त्रैकालिक आधार माना है। पर निरन्तर विकासमान ज्ञान और अनुपलब्धि से उपलब्धि की ओर बढते हुए मानवीय ज्ञान-विज्ञान के चरण यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि व्याप्ति के पीछे जुडा हुआ त्रैकालिकता का विशेषण निरपेक्ष नही हो सकता।

मैं देख रहा हू कि वैज्ञानिक तथ्यो के उद्घाटित हो जाने पर अनेक व्याप्तिया खण्डित हो चुकी हैं। यह नही कहा जा सकता कि सारी व्याप्तिया सही ही हैं। जिस काल मे व्याप्तिया निश्चित की गई, अविनाभाव के नियम निर्धारित किए गए, उस समय उन्हे त्रैकालिक सत्य समझा गया था। किन्तु उत्तरकाल मे उनकी सत्यता वैसी ही रहती है, यह कहना सभव नही है। व्याप्ति के निर्माण मे हमारा प्रत्यक्ष ही काम करता है। बार-बार निरीक्षण के द्वारा जब हम एक ही तथ्य की पुनरावृत्ति देखते हैं तब एक व्याप्ति बना लेते है इसके होने पर यह होगा और इसके न होने पर यह नही होगा।

व्याप्ति वादी और प्रतिवादी दोनो पक्षो द्वारा मान्य होनी चाहिए—यह सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है। जिसकी व्याप्ति प्रमाण से निश्चित नहीं होती उसे हेतु नही माना जाता, किन्तु असिद्धहेत्वाभास माना जाता है। शब्द परिणामी है, क्योकि चाक्षुष है। यह चाक्षुषत्व हेतुवादी और प्रतिवादी दोनो के लिए असिद्ध है। शब्द की व्याप्ति चक्षु के साथ नही है, इसलिए शब्द का चाक्षुष होना सिद्ध नही है। 'वृक्ष चेतन हैं, क्योकि वे सोते हैं।' अथवा 'वृक्ष चेतन हैं, क्योकि सब छाल के निकलने पर वे मर जाते हैं' ये हेतु प्रतिवादी बौद्ध के लिए असिद्ध है। वे मानते हैं कि पक्षभूत वृक्षो का पत्तो के सिकुडने से लक्षित सोना अशत सिद्ध नही है, क्योकि सब वृक्ष रात मे पत्ते नही सिकोडते, किन्तु कुछ वृक्ष ही ऐसा करते हैं। बौद्ध विज्ञान, इन्द्रिय और आयु के निरोध को ही मृत्यु का लक्षण मानते हैं और वह (मृत्यु) वृक्षो मे सभव नहीं है। सपूर्ण छाल के निकालने की मरने के साथ जो

व्याप्ति जैनो ने निश्चित की, उसके प्रतिकार मे बौद्ध कहते हैं—'जैनवादी ने साध्य के द्वारा व्याप्त अथवा अव्याप्त मृत्यु का विवेक किए बिना मृत्युमात्र को हेतु कहा है। वादी ने हेतुभूत मरण को नही समझा और इस अज्ञान के कारण उसके लिए शुष्कतारूप मरण वृक्षो मे दीखने के कारण सिद्ध है। प्रतिवादी को पता होने के कारण असिद्ध है। यदि वादी को भी पता होगा तो उसके लिए भी असिद्ध होगा, यह नियम से कहा जा सकता है।'[1]

जैन तार्किक मानते हैं कि 'वृक्ष चेतन है', इसका ज्ञान बौद्धो को होता तो उक्त हेतु असिद्ध नही होता। इसलिए वे कहते हैं—'वृक्ष अचेतन हैं, क्योकि उनका विज्ञान, इन्द्रिय और आयु की समाप्तिरूप मरण नही होता। यह हेतु वादी बौद्ध के लिए सिद्ध है, किन्तु प्रतिवादी जैन के लिए असिद्ध है।

अविनाभाव के नियम बहुत विवादास्पद रहे है। प्राकृतिक तथ्यो मे सबद्ध व्याप्तिया भी भिन्न-भिन्न रही हैं। उनमे से एक का उल्लेख ऊपर किय गया है। सैद्धान्तिक विपयो से सबद्ध व्याप्तिया बहुत ही भिन्न हैं। जिस दर्शन का जो सिद्धान्त रहा, उसने उसीके आधार पर व्याप्ति का निर्माण किया, जैसे --

1 जैन परिणामि नित्यत्ववादी हैं। इस परिणामि-नित्यता के आधार पर उन्होंने एक व्याप्ति निश्चित की— जो सत् है वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त है अर्थात् एक साथ नित्य और अनित्य दोनो है।

2 बौद्धो ने क्षणिकवाद के आधार पर यह व्याप्ति निश्चित की जो सत् है वह क्षणिक है अर्थात् सत् केवल अनित्य है।

3 नैयायिक, वैशेषिक दर्शन कुछ द्रव्यो को नित्य मानते हैं और कुछ को अनित्य मानते हैं। इसलिए सत् के विषय मे उनकी व्याप्ति भिन्न प्रकार की होगी।

इन उदाहरणो से समझा जा सकता है कि अविनाभाव के नियम-निर्धारण के आधार (सहभाव और क्रमभाव) के विषय मे सब की सम्मति समान होने पर भी उनके फलित समान नही हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि सूक्ष्म सत्यो के विषय मे सबके सिद्धान्त समान नही हैं। यह सैद्धान्तिक असमानता ही अविनाभाव के नियमो मे विभिन्नता लाती है।

यह हो सकता है कि नए रहस्यो के उद्घाटन के पश्चात् सर्व-सम्मत व्याप्तिया भी बदल जाए, अविनाभाव के नियम खडित हो जाए।

1 न्यायबिन्दु (गोविन्दचन्द्र पाण्डे कृत अनुवाद) पृ० 85।

मीमांसकप्रवर कुमारिल ने लिखा है

'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात् ।
दूरसूक्ष्मादि दृष्टौ स्याद्, न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥[2]

'जहां विशेषता दिखाई देती है, वह उनकी सीमा में ही होती है। सीमा का अतिक्रमण कर वह नहीं होती। देखने में आंख की पटुता का अतिशय हो सकता है— दूरस्थ और सूक्ष्म वस्तु को देखा जा सकता है। किन्तु इस पटुता का विकास यहां तक नहीं हो सकता कि आंख सुनने भी लग जाए।'

जब मैंने यह श्लोक पढ़ा तब मेरे मन में प्रश्न उठा कि यह निरूपण जैन-सम्मत नहीं है। जैन मानते हैं कि 'संभिन्नश्रोतोपलब्धि' का विकास होने पर इन्द्रियों की प्रतिनियतार्थग्राहिता समाप्त हो जाती है। फिर किसी भी इन्द्रिय से किसी भी इन्द्रिय का काम लिया जा सकता है, आंख से देखा भी जा सकता है, सुना भी जा सकता है और स्पर्शबोध भी किया जा सकता है। वर्तमान का विज्ञान भी इस सत्य की पुष्टि करता है कि शरीर विज्ञान के अनुसार शरीर के सब कोष एक जैसे हैं। कुछ कोषों ने विशेषज्ञता प्राप्त करली है। यदि प्रशिक्षित की जाए तो आंख की चमड़ी भी देख सकती है। कान की हड्डियों की तुलना में दांत ध्वनि का अपेक्षाकृत अच्छा वाहक है। एक उपकरण को दांतों में फिट कर उनसे कान का काम लिया जा सकता है। इन वैज्ञानिक उपलब्धियों के पश्चात् 'जो श्रोत्रग्राह्य है वह शब्द है' इस व्याप्ति को बदलना पड़ेगा। उसके दंतग्राह्य होने पर श्रोत्रग्राह्यता का नियम सार्वभौम नहीं रहता। मैंने तत्त्वार्थसूत्र की, सिद्धसेनगणि कृत भाष्यानुसारिणी टीका में पढ़ा 'अंगुलियों से पढ़ा जा सकता है।' उस पर मुझे आश्चर्य हुआ। कुछ समय पूर्व वैज्ञानिक पत्रिकाओं में पढ़ा कि रूस में एक लड़की अंगुलियों से पढ़ लेती है। फ्रांस में एक लड़की अंगुलियों से रंग पहिचान लेती है। यह कोई जादू-टोना या मंत्रशक्ति नहीं है। उनकी अंगुलियों के ज्ञान तन्तु इतने विकसित हो गए कि वे आंख का काम दे सकते हैं। हमारे शरीर के हर हिस्से में चैतन्य है। उसे विकसित कर लेने पर शरीर का प्रत्येक भाग बाह्य विषयों को जान सकता है।

एक व्याप्ति है - जो भारी है वह नीचे जाता है, जैसे वृक्ष का संयोग छूट जाने पर फल, भारी होने के कारण, नीचे गिरता है। 'जहां-जहां गुरुत्व है, वहां-वहां अधोगमन है' इस प्राचीन व्याप्ति का, न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण (Theory of Gravitation) और आइंस्टीन के आकाशीय वक्रता (Curvation of Space) के सिद्धान्त के पश्चात्, स्वरूप बदल जाता है। भारी वस्तु नीचे जाती है और हल्की वस्तु ऊपर जाती है—यह सिद्धान्त वजन के आधार पर बना हुआ है। न्यूटन ने यह स्थापित किया कि दो जड़ वस्तुओं के द्रव्यमान (Mass) और उनके बीच की

2 श्लोकवार्त्तिक, सूत्र 2, श्लो० 114।

दूरी के आधार पर अधोगमन और ऊर्ध्वगमन होता है। दोनों वस्तुए एक-दूसरे को आकर्षित करती हैं, गतिमान् बनाती हैं। जिसका द्रव्यमान अधिक होता है वह दूरी के अनुपात मे, कम द्रव्यमान वाली वस्तु को आकर्षित कर लेती है। पृथ्वी का द्रव्यमान फल के द्रव्यमान की अपेक्षा अत्यधिक है, इसलिए वह फल को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। आइस्टीन ने इसमे सशोधन प्रस्तुत किया। उसके अनुसार पदार्थ अपने द्वारा अवगाहित आकाशीय क्षेत्र मे वक्रता उत्पन्न करता है। उस वक्रता के आधार पर अधोगमन होता है। एक विषय मे जैसे-जैसे सिद्धान्त वदलता है वैसे-वैसे उसके आधार पर निर्मित नियम भी वदल जाते हैं। वर्तमानज्ञान के आधार पर नियमो का निर्धारण होता है। नया ज्ञान उपलब्ध होने पर नियम भी नए वन जाते है। इसलिए अविनाभाव या व्याप्ति की पृष्ठभूमि मे त्रैकालिक वोध नही होता, द्वैकालिक फिर भी हो सकता है। भविष्य की वात भविष्य पर छोड देनी चाहिए। इन्द्रिय और मानसज्ञान की एक निश्चित सीमा है, इसलिए उन पर हम एक सीमा तक ही विश्वास कर सकते है। त्रैकालिकवोध अतीन्द्रिय-ज्ञान का कार्य है और वह प्रत्यक्ष है, इसलिए वह अनुमान की सीमा से परे है। व्याप्ति और हेतु की सीमा का वोध न्यायशास्त्र के विद्यार्थी के लिए वहुत आवश्यक है। इस वोध के द्वारा हम अनिश्चय या सदेह की कारा मे वन्दी नही वनते किन्तु अवास्तविकता को वास्तविकता मानने के अभिनिवेश से मुक्त हो सकते है और नई उपलब्धियो के प्रति हमारी ग्रहणशीलता अवाधित रह सकती है।

पश्चिमी दार्शनिक ह्यूम ने कार्य-कारणमूलक क्रमभाव की आलोचना की है। उनके अनुसार कार्य-कारण का सम्वन्ध जाना नही जा सकता। हमे पृथक्-पृथक् सवेदनो या विज्ञानो के आनन्तर्य-सम्वन्ध का अनुभव होता है, उनके आन्तरिक अनिवार्य सम्वन्ध (Causation) का अनुभव नही होता। वस्तुओ मे ऐसा कोई अनिवार्य सम्वन्ध हमे प्रतीत नही होता। हमारे विज्ञानो के आनन्तर्यभाव को, उनकी इस अपेक्षा से कि एक के वाद तुरन्त दूसरा आता है, हम अपने अभ्यास के कारण भ्रमवश एक आन्तरिक और अनिवार्य कार्यकारणभाव नामक सम्वन्ध मान वैठते हैं। विश्व की एकरूपता (Uniformity of Nature) के नियम का हमे अनुभव नही हो सकता। इन्द्रियो के द्वारा हम किसी प्रकार की सार्वभौमिकता या अनिवार्यता के सिद्धान्त पर नही पहुच सकते।[3]

ह्यूम के अनुसार कार्यकारणभाव के अनिवार्य और आवश्यक सम्वन्ध का ज्ञान न प्रत्यक्ष से हो सकता है और न अनुमान से। आचार्य हेमचन्द्र ने भी यह प्रश्न उपस्थित किया कि व्याप्ति कैसे जानी जा सकती है? इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने अपना निर्णय यह दिया कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से व्याप्ति का निश्चय नही किया

3 पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ 161, 162।

जा सकता। यदि उससे व्याप्ति का निश्चय किया जाए तो सारा कार्य प्रत्यक्ष से ही हो जाएगा, फिर व्याप्ति की अपेक्षा ही नहीं रहेगी। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का व्यापार नियमत सन्निहित (वर्तमान में निहित) है। यही उनके व्यवसाय की सीमा है। उसके आधार पर न कोई नियम बनाया जा सकता है और न किसी नियम का निश्चय किया जा सकता है। अनुमान मे व्याप्ति का निश्चय करने में वही अन्योन्याश्रयदोष आएगा एक की सिद्धि दूसरे पर निर्भर होगी। व्याप्ति के लिए अनुमान और अनुमान के लिए व्याप्ति के क्रम का कहीं अन्त नहीं होगा।

व्याप्ति का निश्चय करने के लिए एक स्वतन्त्र मानसविकल्प की अपेक्षा है। जो उपलम्भ और अनुपलम्भ के आधार पर साध्य और साधन के सम्बन्ध की परीक्षा कर व्याप्ति का निर्धारण या निश्चय करे उस मानस-विकल्प की संज्ञा 'तर्क' है, जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठो मे की जा चुकी है।

तर्कज्ञान के द्वारा तादात्म्यमूलक सहभाव तथा तादात्म्यशून्य सहभाव के बीच भेदरेखा खीची जाती है। इसी प्रकार तदुत्पत्तिमूलक क्रमभाव या कार्यकारणभाव तथा तदुत्पत्तिशून्य क्रमभाव का अन्तर जाना जाता है। अग्नि और धूम मे आनन्तर्य सम्बन्ध नही है, किन्तु आन्तरिक अनिवार्य सम्बन्ध है। अग्नि जनक है और धूम जन्य है, इसलिए उनमे आन्तरिक अनिवार्यता है। रविवार के अनन्तर सोमवार आता है- उनमे केवल आनन्तर्य है। रविवार सोमवार को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए उनमे जन्य-जनकभाव या आन्तरिक अनिवार्यता नही है। यह सच है कि आनन्तर्य के आधार पर कार्यकारण सम्बन्ध की कल्पना करना मिथ्याज्ञान है और यह भी सच है कि इन्द्रियानुभव विशेषो तक सीमित है, इसलिए वह सामान्य या सार्वभौम अनिवार्य नियम की प्रकल्पना नही कर सकता, किन्तु इस सचाई को हम अस्वीकार नही कर सकते कि मानस-विकल्प का स्वतन्त्र कार्य भी है। वह केवल इन्द्रियानुभव से प्राप्त सवेदनो या विज्ञानो का पृथक्करण या एकीकरण ही नही करता, इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ करता है। जहा सवेदन की गति नही है वहा मानस-विकल्प की पहुच नही है यह बात अनुभवविरुद्ध है। वह इन्द्रिय-परतन्त्र है, पर सर्वथा इन्द्रिय-परतन्त्र नही है, स्वतन्त्र भी है। वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग कर सामान्य या सार्वभौम अनिवार्य नियम का निश्चय करता है। रविवार और सोमवार मे होने वाले अविनाभाव नियम का आधार केवल आनन्तर्य है। जैन तार्किको ने नियमित आनन्तर्य के आधार पर अविनाभाव का नियम निश्चित किया है। सोमवार रविवार के बाद ही आता है, इसलिए वे परस्पर गमक होते हैं। रोहिणी नक्षत्र कृत्तिका नक्षत्र के बाद ही उदित होता है, इसलिए वे परस्पर गमक होते हैं। पूर्वचर और उत्तरचर हेतु की कार्य-कारणहेतु से पृथक् प्रकल्पना कर जैन तार्किको ने आनन्तर्य और कार्यकारणभाव के पार्थक्य का स्पष्ट बोध प्रस्तुत किया है। इसी

प्रकार उन्होंने इन्द्रियानुभव तथा इन्द्रियानुभव-परतन्त्र मानस-विकल्प से स्वतन्त्र मानस-विकल्प की स्थापना कर अविनाभाव या व्याप्ति के निश्चय की समस्या को समीचीनरूप मे समाहित किया है।

• • •

1 अविसवादिता प्रत्येक प्रमाण की कसौटी है। विसवादी ज्ञान प्रमाण नही होता, फिर आप्त को अविसवादी या अवचक कहने का हेतु क्या है ?

आप्त के वचन से होने वाला अर्थ का सवेदन आगम है। जिसके वचन से अर्थ का सवेदन हुआ है वह व्यक्ति यदि आप्त है अविसवादी वचन का प्रयोक्ता है, तो उसका वचन भी प्रमाण होगा। यदि वह व्यक्ति विसवादी वचन का प्रयोक्ता है तो उसका वचन प्रमाण नही होगा। जो दूसरे को बता रहा है उसे यथार्थ ज्ञान होना चाहिए और उस ज्ञान के अनुसार ही उसका वचन होना चाहिए। आप्तत्व की कसौटी है यथार्थ ज्ञान और यथार्थ वचन।

अविसवादिता प्रत्येक प्रमाण की कसौटी है, पर जब हम एक व्यक्ति के वचन को प्रमाण मान लेते हैं वहा हम स्वय पर निर्भर नही रहते, उस पर निर्भर हो जाते हैं। इन्द्रियानुभव मे हम इन्द्रियो पर निर्भर होते हैं। उसमे इन्द्रियो की अविसवादकता अनिवार्यत अपेक्षित है, पर वह स्वय से भिन्न नही है। आगम मे अविसवादिता दूसरे व्यक्ति से जुडी रहती है, इसलिए दूसरे व्यक्ति की प्रामाणिकता मुख्य रहती है। इसीलिए आप्त के साथ 'अविसवादी' या 'अवचक' विशेषण जोडा जाता है।

2 आप्तत्व का निर्णय कैसे होगा ? एक व्यक्ति एक विषय मे आप्त हो सकता है और दूसरे विषय मे अनाप्त, फिर उसे आप्त मानें या अनाप्त ?

आप्तत्व को हम सीमा मे नही बाध सकते। जहा-जहा अविसवादिता या अवचकता है वहा-वहा आप्तत्व है। जहा विसवादिता या वचकता है वहा-वहा आप्तत्व नही हो सकता। तर्क के धरातल पर हम किसी भी लौकिक पुरुष को सार्व-भौम आप्त नही मान सकते।

3 तादात्म्यमूलक उदाहरण दें। पूर्वापरत्व के उदाहरण मे क्या अन्तर है, वह समझना चाहता हु।

अविनाभाव या व्याप्ति का आधार केवल तादात्म्य सम्बन्ध ही नही है, आनन्तर्य सम्बन्ध भी उसका आधार बनता है। रविवार और सोमवार मे तादात्म्य सम्बन्ध नही है। सोमवार रविवार से उत्पन्न नही होता, इसलिए उसका रविवार से तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नही है, किन्तु सोमवार रविवार के अनन्तर ही होता है,

उससे पहले नही होता। यह आनन्तर्य या क्रमभाव भी सामान्य या सार्वभौम नियम का आधार वनता है। एक के अनन्तर दूसरी घटना अनिवार्यत. घटित होती है, उसके आधार पर भौतिकशास्त्री अनेक नियम निर्धारित करते हैं। उत्तरवर्ती पर्याय का पूर्ववर्ती पर्याय के साथ अनिवार्य सम्बन्ध होता है तो पूर्ववर्ती पर्याय उत्तरवर्ती पर्याय का और उत्तरवर्ती पर्याय पूर्ववर्ती पर्याय का गमक हो सकता है। पूर्वचर और उत्तरचर मे वैयधिकरण्य होता है, वे एक आधार मे नही होते, फिर भी उनका आनन्तर्य कही और कभी वाधित नही होता। तादात्म्य मे शिशपा से वृक्षत्व को पृथक् नही किया जा सकता। रविवार और सोमवार मे तादात्म्य सम्बन्ध नही है, इसलिए इन्हे पृथक् किया जा सकता है, किन्तु इनके आनन्तर्य सम्बन्ध को नहीं तोडा जा सकता। आनन्तर्य तादात्म्य की भाति गमक हो सकता है, इसलिए इसके आधार पर सामान्य नियम वनाने मे कोई वाधा नहीं आती।

□◇□

: 9 :

भारतीय प्रमाण-शास्त्र के विकास में जैन परंपरा का योगदान

विचार-स्वातंत्र्य की दृष्टि से अनेक परम्पराओ का होना अपेक्षाकृत है और विचार-विकास की दृष्टि से भी वह कम अपेक्षित नही है। भारतीय तत्त्व-चिन्तन की दो प्रमुख धाराए हैं— श्रमण और वैदिक। दोनो ने सत्य की खोज का प्रयत्न किया है, तत्त्व-चिन्तन की परम्परा को गतिमान बनाया है। दोनो के वैचारिक विनिमय और सक्रमण से भारतीय प्रमाण-शास्त्र का कलेवर उपचित हुआ है। उसमे कुछ सामान्य तत्त्व हैं और कुछ विशिष्ट। जैन परम्परा के जो मौलिक और विशिष्ट तत्त्व है उनकी सक्षिप्त चर्चा यहा प्रस्तुत है। जैन मनीषियो ने तत्त्व-चिन्तन मे अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया। उनका तत्त्व-चिन्तन स्याद्वाद की भाषा मे प्रस्तुत हुआ। उसकी दो निष्पत्तिया हुई—सापेक्षता और समन्वय। सापेक्षता का सिद्धान्त यह है एक विराट विश्व को सापेक्षता के द्वारा ही समझा जा सकता है और सापेक्षता के द्वारा ही उसकी व्याख्या की जा सकती है। इस विश्व मे अनेक द्रव्य हैं और प्रत्येक द्रव्य अनन्त पर्यायात्मक है। द्रव्यो मे परस्पर नाना प्रकार के सबध है। वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। अनेक परिस्थितिया हैं और अनेक घटनाए घटित होती हैं। इन सबकी व्याख्या सापेक्ष दृष्टिकोण से किए बिना विसगतियो का परिहार नही किया जा सकता।

सापेक्षता का सिद्धान्त समग्रता का सिद्धान्त है। वह समग्रता के सदर्भ मे ही प्रतिपादित होता है। अनन्त धर्मात्मक द्रव्य के एक धर्म का प्रतिपादन किया जाता है तब उसके साथ 'स्यात्' शब्द जुडा रहता है। वह इस तथ्य का सूचन करता है कि जिस धर्म का प्रतिपादन किया जा रहा है वह समग्र नही है। हम समग्रता को एक साथ नही जान सकते। हमारा ज्ञान इतना विकसित नही है कि हम समग्रता को एक साथ जान सकें। हम उसे खडो मे जानते हैं, किन्तु सापेक्षता का सिद्धान्त खड की पृष्ठभूमि मे रही हुई अखडता से हमे अनभिज्ञ नही होने देता। निरपेक्ष सत्य की बात करने वाले इस वास्तविकता को भुला देते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वत्व मे निरपेक्ष है किन्तु सम्बन्धो के परिप्रेक्ष्य मे कोई भी निरपेक्ष नही है।

व्याप्ति या अविनाभाव के नियमो का निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त पर ही होता है। स्थूल जगत् के नियम सूक्ष्म जगत् मे खण्डित हो जाते हैं। इसीलिए विश्व की व्याख्या दो नयो से की गई। वास्तविक या सूक्ष्म सत्य की व्याख्या निश्चय नय से और स्थूल जगत् या दृश्य सत्य की व्याख्या व्यवहार नय मे की गई। आत्मा कर्म का कर्ता है यह सभी आस्तिक दर्शनो की स्वीकृति है, किन्तु यह स्थूल सत्य है और यह व्यवहार नय की भाषा है। निश्चय नय की भाषा यह नही हो सकती। वास्तविक सत्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का ही कर्त्ता होता है। आत्मा का स्वभाव चैतन्य है, अतः वह चैतन्य-पर्याय का ही कर्त्ता हो सकता है। कर्म पौद्‌गलिक होने के कारण विभाव हैं, विजातीय हैं। इसलिए आत्मा उनका कर्त्ता नही हो सकता। यदि आत्मा उनका कर्त्ता हो तो वह कर्म-चक्र से कभी मुक्त नही हो सकता। अत 'आत्मा कर्म का कर्ता है' यह भाषा व्यवहार-सापेक्ष भाषा है।

हम किसी को हल्का मानते हैं और किसी को भारी, किन्तु हल्कापन और भारीपन देश-सापेक्ष हैं। गुरुत्वाकर्षण की सीमा मे एक वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा हल्की-भारी होती है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा का अतिक्रमण करने पर वस्तु भारहीन हो जाती है।

हम वस्तु की व्याख्या लम्बाई और चौडाई के रूप मे करते हैं। मूर्त वस्तु के लिए यह व्याख्या ठीक है। अमूर्त की यह व्याख्या नही हो सकती। उसमे लम्बाई और चौडाई नही है। वह आकाश-देश का अवगाहन करती है पर स्थान नही रोकती। अत. लम्बाई और चौडाई मूर्त-द्रव्य-सापेक्ष है। उष्णता के रूप मे विद्यमान ऊर्जा को गति मे बदल देने पर उसकी मात्रा समान रहती है। यह उष्णता-गति-विज्ञान (थर्मोडायनेमिक्स) का पहला सिद्धान्त है। इसका दूसरा सिद्धान्त यह है कि किसी यत्र मे निक्षिप्त ऊर्जा की मात्रा मे कमी हो जाती है। वह क्रमश क्षीण होती जाती है। इसलिए किसी ऐसे यन्त्र का निर्माण सम्भव नही है जिसमे ऊर्जा का निक्षेप किया जाए और वह उसके द्वारा सदा गतिशील बना रहे। कुछ दार्शनिको द्वारा यह सम्भावना व्यक्त की गई है कि हमारे देश और काल मे व्यवहार मे प्रयुक्त ऊर्जा की अक्षीणता निष्पन्न नही हुई है। पर सम्भव है किसी देश और काल मे वह क्षीण न हो और उस देश-काल मे यह सम्भव हो सकता है कि एक बार यत्र मे ऊर्जा का निक्षेप कर देने पर वह सदा गतिशील बना रहे। इन कुछ उदाहरणो से हम समझ सकते है कि विशिष्ट देश और काल की व्याप्तिया सर्वत्र लागू नही होती। इसलिए उनका निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है।

सांख्यिकी (Statistics) और भौतिकविज्ञान (Physics) के अनेक सिद्धान्तो की व्याख्या सापेक्षता के सिद्धान्त से की जा सकती है।

1 देखें पाचवा प्रकरण 'स्याद्‌वाद और सप्तभगी न्याय।'

स्याद्वाद की दूसरी निष्पत्ति समन्वय है। जैन मनीषियो ने विरोधी धर्मों का एक साथ होना असम्भव नही माना। उन्होने अनुभवसिद्ध अनित्यता आदि धर्मों को स्वीकार नही किया, किन्तु नित्यता आदि के साथ उनका समन्वय स्थापित किया। तर्क से स्थापना और तर्क से उसका उत्थापन- इस पद्धति मे तर्क का चक्र चलता रहता है। एक तर्क-परम्परा का अभ्युपगम है कि शब्द अनित्य है, क्योकि वह कृतक है। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे घडा। दूसरी तर्क-परम्परा ने इसका प्रतिपादन किया और वह भी तर्क के आधार पर किया कि शब्द नित्य है, क्योकि वह अकृतक है। जो अकृतक होता है वह नित्य होता है, जैसे—आकाश। इन दो विरोधी तर्कों मे समन्वय को खोजा जा सकता है। विरोध समन्वय का जनक है। 'शब्द अनित्य है'—यह अभ्युपगम इसलिए सत्य है कि एक क्षण मे शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनता है और दूसरे क्षण मे वह अतीत हो चुका है। इस परिवर्तन की दृष्टि से शब्द को अनित्य मानना असगत नही है। मीमासको ने शब्द के उपादानभूत स्फोट को नित्य माना, वह भी अनुचित नही है। भाषा-वर्गणा के पुद्गल शब्दरूप मे परिणत होते हैं और वे पुद्गल कभी भी अ-पुद्गल नही होते। इस अपेक्षा से उनकी नित्यता भी स्थापित की जा सकती है। सापेक्ष सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का निरपेक्ष धर्म सत्य नही होता। वे समन्वित होकर ही सत्य होते है। सायण माधवाचार्य (ई० 1300) ने 'सर्वदर्शनसग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की। उसमे उन्होने पूर्व दर्शन का उत्तर दर्शन से खण्डन करवाया है और अन्तिम प्रतिष्ठा वेदान्त को दी है। प्रखर तार्किक मल्लवादी (ई० 4–5 शती) ने द्वादशार-नयचक्र की रचना की। उसमे एक दर्शन का प्रस्थान प्रस्तुत होता है। दूसरा उसका निरसन करता है। दूसरे के प्रस्थान का तीसरा निरसन करता है। इस प्रकार प्रस्थान और निरसन का चक्र चलता है। उसमे अन्तिम प्रतिष्ठा किसी दर्शन की नही है सब दर्शनो के नय समन्वित होते हैं तब सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है। एक-एक नय की स्वीकृति मिथ्या है। उन सबकी स्वीकृति सत्य है। इस समन्वय के दृष्टिकोण ने तर्क-शास्त्र को वितडा के वात्याचक्र से मुक्त कर सत्य का स्वस्थ आधार दिया।

जैन प्रमाण-शास्त्र की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—प्रमाण का वर्गीकरण। प्रत्यक्ष और परोक्ष इस वर्गीकरण मे सकीर्णता का दोष नही है। इसमे सब प्रमाणो का समावेश हो जाता है। हम या तो ज्ञेय को साक्षात् जानते हैं या किसी माध्यम से जानते हैं। जानने की ये दो ही पद्धतिया हैं। इन्ही के आधार पर प्रमाण के दो मूल विभाग किए गए हैं। बौद्ध और वैशेषिक तार्किको ने प्रत्यक्ष और अनुमान—दो प्रमाण माने तो आगम को उन्हे अनुमान के अन्तर्गत मानना पडा। आगम को अनुमान के अन्तर्गत मानना निर्विवाद नही है। परोक्ष प्रमाण मे अनुमान, आगम स्मृति, तर्क आदि सबका समावेश हो जाता है और किसी का लक्षण साकर्यदोष,

से दूषित नही होता । इस दृष्टि से प्रमाण का प्रस्तुत वर्गीकरण सर्वग्राही और वास्तविकता पर आधारित है ।

इन्द्रियज्ञान का व्यापार-क्रम (अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा) भी जैन प्रमाण-शास्त्र का मौलिक है । इसकी चर्चा पहले प्रकरण 'आगमयुग का जैन-न्याय' मे तथा छठे प्रकरण 'प्रमाण-व्यवस्था' मे की जा चुकी है । मानस-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह वहुत ही महत्त्वपूर्ण है ।

तर्क-शास्त्र मे स्वत प्रामाण्य का प्रश्न वहुत चर्चित रहा है । जैन तर्क-परम्परा मे स्वत प्रमाण मनुष्य का स्वीकृत है । मनुष्य ही स्वत प्रमाण होता है, ग्रन्थ स्वत प्रमाण नही होता । ग्रन्थ के स्वत प्रामाण्य की अस्वीकृति और मनुष्य के स्वत प्रामाण्य की स्वीकृति एक वहुत विलक्षण सिद्धान्त है । पूर्वमीमासा ग्रन्थ का स्वत प्रामाण्य मानती है, मनुष्य को स्वत प्रमाण नही मानती । उसके अनुसार मनुष्य वीतराग नही हो सकता, और वीतराग हुए विना कोई सर्वज्ञ नही हो सकता और अ-सर्वज्ञ स्वत प्रमाण नही हो सकता । जैन चिन्तन के अनुसार मनुष्य वीतराग हो सकता है और वह केवल ज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ हो सकता है । इसलिए स्वत प्रमाण मनुष्य ही होता है । उसका वचनात्मक प्रयोग, ग्रन्थ या वाड्मय भी प्रमाण होता है, किन्तु वह मनुष्य की प्रामाणिकता के कारण प्रमाण होता है इसलिए वह स्वत प्रमाण नही हो सकता । पुरुष के स्वत प्रामाण्य का सिद्धान्त जैन तर्कशास्त्र की मौलिक देन है । समूची भारतीय तर्क-परम्परा मे सर्वज्ञत्व का समर्थन करने वाली जैन परम्परा ही प्रधान है । समूचे भारतीय वाड्मय मे सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए लिखा गया विपुल साहित्य जैन परम्परा मे ही मिलेगा । वौद्धो ने वुद्ध को स्वत प्रमाण मानकर ग्रन्थ का परत प्रामाण्य माना है । किन्तु वे वुद्ध को धर्मज्ञ मानते हैं, सर्वज्ञ नही मानते ।[1] पूर्वमीमासा के अनुसार मनुष्य धर्मज्ञ भी नही हो सकता । वौद्धो ने इससे आगे प्रस्थान किया और कहा कि मनुष्य धर्मज्ञ हो सकता है । जैनो का प्रस्थान इससे आगे है । उन्होंने कहा मनुष्य सर्वज्ञ भी हो सकता है । कुमारिल ने समन्तभद्र के सर्वज्ञता के सिद्धान्त की कडी मीमासा की है । धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञता पर तीखा व्यग कसा है । उन्होंने लिखा है[2]

"दूर पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु ।
प्रमाण दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे ।"

1 प्रमाणवार्तिक, 1/34

हेयोपादेयतत्त्वस्य, साभ्युपायस्य वेदक ।
य प्रमाणमभिविष्टो, न तु सर्वस्य वेदक ॥

2 प्रमाणवार्तिक, 1/35 ।

'इष्ट तत्त्व को देखने वाला ही हमारे लिए प्रमाण है, फिर वह दूर को देखे या न देखे। यदि दूरदर्शी ही प्रमाण हो तो आइए, हम गीधो की उपासना करें क्योकि वे बहुत दूर तक देख लेते है।'

सर्वज्ञत्व की मीमासा और उस पर किए गए व्यगो का जैन आचार्यों ने सटीक उत्तर दिया है और लगभग दो हजार वर्ष की लम्बी अवधि से सर्वज्ञत्व का निरतर समर्थन किया है।

जैन तर्क-परम्परा की देय के साथ-साथ आदेय की चर्चा करना भी अप्रासगिक नही होगा। जैन तार्किको ने अपनी समसामयिक तार्किक परम्पराओ से कुछ लिया भी है। अनुमान के निरूपण मे उन्होंने बौद्ध और नैयायिक तर्क-परम्परा का अनुसरण किया है। उसमे अपना परिमार्जन और परिष्कार किया है तथा उसे जैन परम्परा के अनुरूप ढाला है। बौद्धो ने हेतु का त्रैरूप्य लक्षण माना है, किन्तु जैन-तार्किको ने उल्लेखनीय परिष्कार किया है। हेतु का अन्यथा-अनुपपत्ति लक्षण मान कर हेतु के लक्षण मे एक विलक्षणता प्रदर्शित की है। हेतु के चार प्रकारो

1 विधि-साधक विधि हेतु।
2 निषेध-साधक विधि हेतु।
3 निषेध-साधक निषेध हेतु।
4 विधि-साधक निषेध हेतु।

की स्वीकृति भी सर्वथा मौलिक है।

उक्त कुछ निदर्शनो से हम समझ सकते हैं कि भारतीय चिन्तन मे कोई अवरोध नही रहा है। दूसरे के चिन्तन का अपलाप ही करना चाहिए और अपनी मान्यता की पुष्टि ही करनी चाहिए ऐसी रूढ धारणा भी नही रही है। आदान और प्रदान की परम्परा प्रचलित रही है। हम सपूर्ण भारतीय वाड्मय मे इसका दर्शन कर सकते हैं।

दर्शन और प्रमाण–शास्त्र : नई समावनाए

प्रमाणशास्त्रीय चर्चा के उपसहार मे कुछ नई सभावनाओ पर दृष्टिपात करना असामयिक नही होगा। इसमे कोई सदेह नही कि प्रमाण-व्यवस्था या न्यायशास्त्र की विकसित अवस्था ने दर्शन का अभिन्न अग बनने की प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यह भी असदिग्ध है कि उसने दर्शन की धारा को अवरुद्ध किया है, उसे अतीत की व्याख्या मे सीमित किया है। दार्शनिको की अधिकाश शक्ति तर्क-मीमासा मे लगने लगी। फलत निरीक्षण गौण हो गया और तर्क प्रधान। सूक्ष्म निरीक्षण के

अभाव मे नए प्रमेयो की खोज का द्वार बन्द हो गया। सत्य की खोज के तीन साधन हैं

1 निरीक्षण (Observation)
2 अनुमान या तर्क (Logic)
3 परीक्षण (Experiment)

ज्ञान-विज्ञान की जितनी शाखाए हैं दर्शन, भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान उन सबकी वास्तविकताओ का पता इन्ही साधनो से लगाया जाता है। इन्ही पद्धतियो से हम सत्य को खोजते रहे हैं जब से हमने सत्य की खोज प्रारम्भ की है।

दर्शन की धारा मे नए-नए प्रमेय खोजे गए हैं, वे निरीक्षण के द्वारा ही खोजे जा सकते हैं। जब हमारे दार्शनिक निरीक्षण की पद्धति को जानते थे तब प्रमेयो की खोज हो रही थी। जब तर्क-मीमासा ने बुद्धि की प्रधानता उपस्थित कर दी, तर्क का अतिरिक्त मूल्य हो गया तब निरीक्षण की पद्धति दार्शनिक के हाथ से छूट गई। वह विस्मृति के गर्त मे जाकर लुप्त हो गई। आज किसी को दार्शनिक कहने की अपेक्षा दर्शन का व्याख्याता कहना अधिक उपयुक्त होगा। दार्शनिक वे हुए हैं जिन्होने अपने सूक्ष्म निरीक्षणो के द्वारा प्रमेयो की खोज की है, स्थापना की है। इन पन्द्रह शताब्दियो मे नए प्रमेयो की खोज या स्थापना नही हुई है, केवल अतीत के दार्शनिको के द्वारा खोजे गए प्रमेयो की चर्चा हुई है, आलोचना हुई है, खडन-मडन हुआ है। सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव मे इससे अतिरिक्त कुछ होने की आशा भी नही की जा सकती। सूक्ष्म निरीक्षण की एक विशिष्ट प्रक्रिया थी। उसका प्रतिनिधि शब्द है अतीन्द्रियज्ञान।

वर्तमान विज्ञान ने नए प्रमेयो, गुण-धर्मो और सम्बन्धो की खोज की है, उसका कारण भी अतीन्द्रियज्ञान है। मैं नही मानता कि आज के वैज्ञानिक ने अतीन्द्रियज्ञान की पद्धति विकसित नही की है। उसके विकास का मार्ग भिन्न हो सकता है किन्तु जो तथ्य इन्द्रियो से नही जाने जा सकते, उन्हें जानने के साधन विज्ञान ने उपलब्ध किए हैं। अतीन्द्रियज्ञान के तीन विषय हैं सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरस्थ)। इन्द्रियो के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट तथ्य नही जाने जा सकते। आज का वैज्ञानिक सूक्ष्म का निरीक्षण करता है। तर्क की भाषा मे जो चाक्षुष नही है, जिन्हे हम चर्मचक्षु से नही देख सकते, उन्हे वह सूक्ष्मवीक्षण (Microscope) यत्र के द्वारा देखता है। इस सूक्ष्मवीक्षण यंत्र को मैं अतीन्द्रिय उपकरण मानता हू। यह अतीन्द्रियज्ञान मे सहायक होता है। जो इन्द्रिय से नही देखा जाता वह उससे देखा जाता है। व्यवहित को जानने के लिए 'एक्सरे' की कोटि के यत्रो का आविष्कार हुआ है। उनके द्वारा एक वस्तु को पार कर दूसरी

वस्तु को देखा जा सकता है। विप्रकृष्ट (दूरस्थ) को जानने के लिए दूरवीक्षण, टेलिस्कोप आदि यंत्रो का विकास हुआ है। जिस अतीन्द्रियज्ञान के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थ जाने जाते थे, वह आत्मिक अतीन्द्रियज्ञान वैज्ञानिको को उपलब्ध नही है किन्तु उन्होंने उन तीनो प्रकार के पदार्थों को जानने के लिए अपेक्षित यान्त्रिक उपकरण (सूक्ष्मदृष्टि, पारदर्शीदृष्टि और दूरदृष्टि) विकसित कर लिए हैं। दार्शनिक के लिए ये तीनो बातें आवश्यक हैं। दार्शनिक वह हो सकता है जो इन्द्रियातीत सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट तथ्यो को उपलब्ध कर सके। किन्तु दर्शन के क्षेत्र मे आज ऐसी उपलब्धि नही हो रही है। मुझे कहना चाहिए कि तर्क-परम्परा ने जहा कुछ अच्छाइया उत्पन्न की हैं, वहा कुछ अवरोध भी उत्पन्न किए है। आज हम अतीन्द्रियज्ञान के विषय मे सदिग्ध हो गए हैं। जिन क्षणो मे अतीन्द्रिय-वोध हो सकता है उन क्षणो का अवसर भी हमने खो दिया है। अतीन्द्रिय-वोध के दो अवसर होते हैं

1 किसी समस्या को हम अवचेतन मन मे आरोपित कर देते हैं। कुछ दिनो के लिए उस समस्या पर अवचेतन मन मे क्रिया होती रहती है। फिर स्वप्न मे हमे उसका समाधान मिल जाता है। एक सभावना थी स्वप्नावस्था की, जिसका वीज अर्धजागृत अवस्था मे वोया जाता था। उसका प्रयोग भी आज का दार्शनिक नही कर रहा है।

2 दूसरी सभावना थी निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव की। जीवन मे कोई एक क्षण ऐसा आता है कि हम विचारशून्यता की स्थिति मे चले जाते हैं। उस क्षण मे कोई नई स्फुरणा होती है, असभावित और अज्ञात तथ्य सभावित और ज्ञात हो जाते हैं।

ये दो सभावनायें थी प्राचीन दार्शनिक के सामने। वह उन दोनो का प्रयोग करता था। वर्तमान के वज्ञानिको ने भी यत्र-तत्र इन दोनो सभावनाओ की चर्चा की है। विकल्पशून्य अवस्था मे चेतना के सूक्ष्म स्तर सक्रिय होते हैं और ये सूक्ष्म सत्यो के समाधान प्रस्तुत करते हैं। स्वप्नावस्था मे भी स्थूल चेतना निष्क्रिय हो जाती है। उस समय सूक्ष्म चेतना किसी सूक्ष्म सत्य से सपर्क करा देती है। मैं नही मानता कि आज के दार्शनिक मे क्षमता नही है। उसकी क्षमता तर्क के परतो के नीचे छिपी हुई है। वह दार्शनिक की अपेक्षा तार्किक अधिक हो गया है। उसके निरीक्षण की क्षमता निष्क्रिय हो गई है। दर्शन की नई सभावनाओ पर विचार करते समय हमे वास्तविकता की विस्मृति नही करनी चाहिए। तर्क को हम अस्वीकार नही कर सकते। दर्शन से उसका सम्वन्ध-विच्छेद नही कर सकते। पर इस सत्य का अनुभव हम कर सकते हैं कि तर्क का स्थान दूसरा है, निरीक्षण और परीक्षण का स्थान पहला। 'अनुमान' मे विद्यमान 'अनु' शब्द इसका सूचक है कि पहले प्रत्यक्ष और फिर तर्क का प्रयोग। तर्क-विद्या का एक नाम

'आन्वीक्षिकी' है। ईक्षण के पश्चात् तर्क हो सकता है, इसीलिए इसे 'आन्वीक्षिकी' कहा जाता है। निरीक्षण या परीक्षण के पश्चात् नियमो का निर्धारण किया जाता है। उन नियमो के आधार पर अनुभव किया जाता है। प्रायोगिक पद्धतिया हमारे लिए अतिम निर्णय लेने की स्थिति निर्मित कर देती हैं। वे स्वय सिद्धातो का निरूपण नही करती। तर्क ही वह साधन है जिसके आधार पर निरीक्षित तथ्यो से निष्कर्ष निकाले जाते हैं और उनके आधार पर नियम निर्धारित किए जाते है। इस प्रक्रिया का अनुसरण दर्शन ने किया था और विज्ञान भी कर रहा है। वैज्ञानिको ने परीक्षण के पश्चात् इस नियम का निर्धारण किया कि ठडक से सिकुडन होती है और उष्णता से फैलाव। यह सामान्य नियम सब पर लागू होता है, पर इसका एक अपवाद भी है। चार डिग्री से जीरो डिग्री तक जल का फैलाव होता है। ठडा होने पर भी वह सिकुडता नही है। यह विशेष नियम है। केवल सामान्य नियमो के आधार पर वास्तविक घटनाओ के बारे मे विधानात्मक बात नही की जा सकती। यह सिद्धान्त सैधान्तिक विज्ञान (Theoratical Science), चिकित्सा और कानून तीनो पर लागू होता है। विशेष नियम के आधार पर निर्णायक भविष्यवाणिया (Predictions) की जा सकती हैं, जैसे—एक वैज्ञानिक जल की चार डिग्री से नीचे की ठडक के आधार पर जल-वाहक पाइप के फट जाने की भविष्यवाणी कर देता है। यह सब तर्क का कार्य है। उसका बहुत बडा उपयोग है फिर भी उसे निरीक्षण का मूल्य नही दिया जा सकता। जब निरीक्षण के साक्ष्य (Observational evidences) हमारे पास नही हैं तब हम निममो का निर्धारण किस आधार पर करेंगे और तर्क का उपयोग कहा होगा? दर्शन के जगत् मे मैं जिस वास्तविकता की अनिवार्यता का अनुभव कर रहा हू वह तीन सूत्रो मे प्रस्तुत है—

1 नए प्रमेयो की गवेषणा और स्थापना।
2 सूक्ष्म निरीक्षण की पद्धति का विकास।
3 सूक्ष्म निरीक्षण की क्षमता (चित्त की निर्मलता) का विकास।

इस विकास के लिए प्रमाणशास्त्र के साथ-साथ योगशास्त्र, कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान का समन्वित अध्ययन होना चाहिए। इस समन्वित अध्ययन की धारणा मस्तिष्क मे नही होगी तब तक सूक्ष्म निरीक्षण की बात सफल नही होगी। 'योग' दर्शन का महत्त्वपूर्ण अग है। उसका उपयोग केवल शारीरिक अस्वास्थ्य तथा मानसिक तनाव मिटाने के लिए ही नही है, हमारी चेतना के सूक्ष्म स्तरो को उद्घाटित करने के लिए उसका बहुत बडा मूल्य है। सूक्ष्म सत्यो के साथ सपर्क स्थापित करने का वह एक सफल माध्यम है। महर्षि चरक पौधो के पास जाते और उनके गुण-धर्मो को जान लेते। सूक्ष्म यत्र उन्हें उपलब्ध नही थे। वे ध्यानस्थ होकर बैठ जाते और पौधो के गुण-धर्म उनकी चेतना के निर्मल दर्पण मे प्रति-

विम्बित हो जाते। जैन वाङ्मय मे हजारो वर्ष पहले वनस्पति आदि के विषय मे ऐसे अनेक तथ्य निरूपित हैं, जो ध्यान की विशिष्ट भूमिकाओ मे उपलब्ध हुए थे।

सूक्ष्म निरीक्षण की पद्धति को विकसित करने के लिए कर्मशास्त्रीय अध्ययन भी बहुत मूल्यवान् है। हमारे पौद्‌गलिक शरीर (Physical body) के भीतर एक कर्म-शरीर (Karmic body) है। वह सूक्ष्म है। उसकी क्रियाए स्थूल शरीर मे प्रतिक्रिया के रूप मे प्रगट होती हैं। कर्म-शरीर के बिम्बो के निरीक्षण की क्षमता प्राप्त कर हम स्थूल शरीर के प्रतिबिम्बो की सूक्ष्मतम व्याख्या कर सकते है और उनके कार्य-कारण-भाव का निर्धारण भी कर सकते हैं।

मन की विभिन्न प्रवृत्तियो, उसकी पृष्ठभूमि मे रही हुई चेतना के विभिन्न परिवर्तनो और चेतना को प्रभावित करने वाले बाहरी तत्त्वो का अध्ययन कर हम निरीक्षण की क्षमता को नया आयाम दे सकते हैं।

इस समन्वित अध्ययन की परम्परा को गतिशील बनाने के लिए दार्शनिक को केवल तर्कशास्त्री होना पर्याप्त नही है। उस साधक भी होना होगा। उसे चित्त की निर्मलता भी अर्जित करनी होगी। बहुत सारे वैज्ञानिक भी साधक होते हैं और वे तपस्वी जैसा निर्मल जीवन जीते हैं जो सत्य की खोज मे निरत होते हैं उनके मन मे कलुषताए नही रहती और यदि वे रहती हैं तो पग-पग पर बाधाए उपस्थित करती हैं। सत्य की खोज के लिए निरीक्षण-पद्धति का विकास आवश्यक है और उसके विकास के लिए चित्त की निर्मलता और एकाग्रता आवश्यक है। आज के वैज्ञानिक वातावरण मे निरीक्षण के द्वारा उपलब्ध प्रमेयो का परीक्षण भी होना चाहिए। विज्ञान को दर्शन का उत्तराधिकारी मिला है, अत दर्शन और विज्ञान मे दूरी का अनुभव क्यो होना चाहिए ? निरीक्षण के पश्चात् परीक्षण और फिर तर्क का उपयोग — इस प्रकार तीनो पद्धतियो का समन्वित प्रयोग हो तो दर्शन पुन प्राणवान् होकर अपने पितृस्थान को प्रतिष्ठापित कर सकता है। इस भूमिका मे न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र का भी उचित मूल्याकन हो सकेगा।

□ ◇ □

परिशिष्ट १

प्रमाणों के विभिन्न प्रकार

प्रमाण के चार प्रकार

1 द्रव्य प्रमाण
2 क्षेत्र प्रमाण
3 काल प्रमाण
4 भाव प्रमाण

द्रव्य प्रमाण के दो प्रकार

1. प्रदेशनिष्पन्न (परमाणु, द्विप्रदेशिक स्कध आदि)
2 विभागनिष्पन्न ।

विभागनिष्पन्न के पाच प्रकार

1 मान इससे धान्य और रस (द्रव) वस्तुओ का माप किया जाता है ।
2 उन्मान इसमे नगर के क्रम आदि का तोल किया जाता है ।
3 अवमान हाथ आदि से किया जाने वाला माप ।
4 गण्य गणना प्रमाण ।
5 प्रतिमान स्वर्ण, मणि, मुक्ता आदि का माप ।

क्षेत्र प्रमाण के दो प्रकार

1 प्रदेशनिष्पन्न (एक प्रदेशावगाढ आदि)
2 विभागनिष्पन्न (अगुल आदि)

काल प्रमाण के दो प्रकार

1 प्रदेशनिष्पन्न––एक समय स्थितिक आदि ।
2 विभागनिष्पन्न समय, आवलिका, मुहूर्त आदि ।

भाव प्रमाण के तीन प्रकार

1 गुण प्रमाण गुण द्रव्य का परिच्छेद करते हैं । अत यह प्रमाण है ।
2 नय पमाण[1] ।
3 सख्या प्रमाण[2] ।

---

1 अनुयोगद्वार वृत्ति पत्र 212 एते च नया ज्ञानरूपास्ततो जीवगुणत्वेन यद्यपि गुणप्रमाणेऽन्तर्भवन्ति तथापि प्रत्यक्षादिप्रमाणेभ्यो नयरूपतामात्रेण पृथक् प्रसिद्धत्वात् वहुविचारविपयत्वाज्जिनागमे प्रतिस्थानमुपयोगित्वाच्च जीवगुणप्रमाणान् पृथगुक्ता ।

2 अनुयोगद्वार, वृत्ति पत्र 224 नामस्थापनादि वहुविचारविपयत्वात् सख्याप्रमाणात् गुणप्रमाण पृथगुक्तम् अन्यथा सख्याया अपि गुणत्वाद् गुणप्रमाणे एवान्तर्भाव स्यादिति ।

गुण प्रमाण के दो प्रकार

1 जीवगुण प्रमाण, 2 अजीवगुण प्रमाण

जीव गुण प्रमाण के तीन प्रकार

1 ज्ञानगुण प्रमाण
2 दर्शनगुण प्रमाण
3 चारित्रगुण प्रमाण

ज्ञानगुण प्रमाण के चार प्रकार

1 प्रत्यक्ष, 2 अनुमान,
3 औपम्य और 4 आगम

प्रत्यक्ष के दो प्रकार--

1 इन्द्रिय प्रत्यक्ष और 2 नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष

इन्द्रिय प्रत्यक्ष के पाच प्रकार

1 श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष 2 चक्षु इन्द्रिय प्रत्यक्ष
3 घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष 4 जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष
5 स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष

नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन प्रकार

1 अवधिज्ञान प्रत्यक्ष
2 मन पर्यवज्ञान प्रत्यक्ष
3 केवलज्ञान प्रत्यक्ष

अनुमान के तीन प्रकार

1 पूर्ववत् 2 शेषवत्
3 दृष्टसाधर्म्यवत्

शेषवत् के पाच प्रकार

1 कार्येण, 2 कारणेन,
3 गुणेन, 4 अवयवेन,
5 आश्रयेण

दृष्टसाधर्म्यवत् के दो प्रकार

1 सामान्यदृष्ट 2 विशेषदृष्ट ।

विशेषदृष्ट के तीन प्रकार

1 अतीतकालग्रहण, 2 वर्तमानकालग्रहण,
3 अनागतकालग्रहण

औपम्य के दो प्रकार -

1 साधर्म्योपनीत, 2 वैधर्म्योपनीत

साधर्म्य के तीन प्रकार

1 किञ्चित् साधर्म्य, 2 प्राय साधर्म्य,
3 सर्वसाधर्म्य

आगम के दो प्रकार

1 लौकिक 2 लोकोत्तर

दर्शनगुण प्रमाण के चार प्रकार

1 चक्षुदर्शन 2 अचक्षुदर्शन
3 अवधिदर्शन 4 केवलज्ञान

चरित्रगुण प्रमाण के पाच प्रकार

1 सामयिक 2 छेदोपस्थापन,
3 परिहारविशुद्धि 4 सूक्ष्मसपराय,
5 यथाख्यात

नय प्रमाण के तीन प्रकार

1 प्रस्तरदृष्टान्तेन 2 वसतिदृष्टान्तेन
3 प्रदेशदृष्टान्तेन

संख्या प्रमाण के आठ प्रकार

1. नाम सख्या 5 परिमाण सख्या
2 स्थापना सख्या 6 ज्ञान सख्या
3 द्रव्य सख्या 7 गणना सख्या
4. औपम्य सख्या 8. भाव सख्या

प्रमाण के दो प्रकार

1 लौकिक और 2 लोकोत्तर

लौकिक प्रमाण के छह प्रकार

1 मान,
2 उन्मान,
3 अवमान,
4 गणना,
5 प्रतिमान,
6 तत्प्रमाण

लोकोत्तर प्रमाण के चार प्रकार

1 द्रव्य,
2 क्षेत्र,
3 काल,
4 भाव

द्रव्य प्रमाण के दो प्रकार

1 सख्या और
2 उपमा

(तत्त्वार्थवार्तिक 3138)

प्रमाण के सात प्रकार

1 नाम,
2 स्थापना,
3 सख्या,
4 द्रव्य,
5 क्षेत्र
6 काल और
7 ज्ञान प्रमाण

(सय सहस्समिदि सव्वगुणाण सखाण धम्मा सखापमाण कसायपाहुड, भाग 1, जय धवला पृ 38)

(पमाणेसु णाणपमाण चेव पहाण, एदेण विणा सेसासेसपमाणाणमभावप्पसगादो--कसायपाहुड, भाग 1, जय पृ 42)

परिशिष्ट २

व्यक्ति, समय और न्याय-रचना

	व्यक्ति	समय (ईसवी शताब्दी)	न्याय-विषयक ग्रन्थ
1	अकलक	आठवी	अष्टशती, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय प्रमाणसग्रह, सिद्धिविनिश्चया, न्यय-चूलिका।
2	अनन्तकीर्त्ति	9-11 वी	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, लघुसर्वज्ञसिद्धि
3	अनन्तवीर्य	दसवी	सिद्धिविनिश्चय टीका।
4	अनन्तवीर्य	ग्यारहवी	प्रमेयरत्नमाला।
5	अभयतिलक	चौदहवी	न्यायालकारवृत्ति, तर्कन्यायसूत्र टीका, पञ्चप्रस्थन्यायतर्कव्याख्या।
6	अभयदेव	10-11 वी	तत्ववोवविधायिनी टीका (वाद-महार्णव)
7	आशाधर (पडित)	1188-1250	प्रमेयरत्नाकर
8	उमास्वाति	पहली-दूसरी	तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य
9	कुन्दकुन्द	दूसरी	प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय
10	कुमारनन्दि	आठवी	वादन्याय
11	गुणरत्नसूरी	14-15 वी	तर्करहस्य दीपिका।
12	ज्ञानचन्द्र	14-15 वी	रत्नाकरावतारिका टिप्पनक
13	चन्द्रसेन	12-13 वी	उत्पादसिद्धि
14	चारुकीर्त्ति पडिताचार्य	—	प्रमाणरत्नालकार
15	जिनदत्तसूरी	तेरहवी	पट्दर्शनसमुच्चय वृत्ति
16	जिनपतिसूरी	13 वी	प्रवोववादस्थल
17	जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	5-6	विशेपावश्यक भाष्य
18	जिनेश्वरसूरी	12-13 वी	प्रमालक्ष्म सटीक
19	देवनन्दि(पूज्यवाद)	6	सर्वार्थसिद्धि
20	देवप्रभसूरी	12-13 वी	न्यायावतारटिप्पण
21	देवभद्र	11-12 वी	न्यायावतारवार्त्तिकटीका।
22	देवसेन	10	दर्शनसार
23	धर्मभूषण	14-15	न्यायदीपिका, प्रमाणविस्तार

24	नरचन्द्रसूरी	13	न्यायकन्दली
25	नरेन्द्रसेन		प्रमाणप्रमेयकलिका
26	पात्रकेसरी	5-6	त्रिलक्षणकदर्थन
27	प्रद्युम्नसूरी	12	वादस्थल
28	प्रभाचन्द्र	10-11	प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि
29	भावसेन	11-13	विश्वतत्वप्रकाश, प्रमाप्रमेय
30	मणिकण्ठ		न्यायरत्न
31	मल्लवादी	4-5	द्वादशारनयचक्र
32	मल्लवादी	८	न्यायबिन्दु की टीका पर टिप्पनक
33	मल्लिषेण	14	स्याद्वादमञ्जरी
34	माणिक्यनन्दि	10-11	परीक्षामुख
35	मुनिचन्द्रसूरी	12	अनेकान्तजयपताकावृत्तिटिप्पनक
36	मेरुतुंग	15	षड्दर्शननिर्णय
37	यतिवृषभ	5-6	तिलोयपण्णत्ती
38	रत्नप्रभसूरी	12-13	रत्नाकरावतारिका
39	राजशेखरसूरी	14-15	रत्नाकरावतारिकापञ्जिका
40	रामचन्द्रसूरी	13	व्यतिरेकद्वात्रिंशिका
41	वसुनन्दि	11-12	आप्तमीमांसावृत्ति
42	वादिदेवसूरी	11-12	प्रमाणनयतत्वालोक, स्याद्वादरत्नाकर (स्वोपज्ञ टीका)
43	वादिराजसूरी	11	न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाण-निर्णय,
44	वादीभसिंह	8-9	स्याद्वादसिद्धि
45	विद्यानन्दि	7-9	प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय आप्तपरीक्षा, जल्पनिर्णय, नयविवरण, अष्टसहस्री आदि।
46	विमलदास	15	सप्तभंगीतरङ्गिनी
47	शान्तिसूरी	11	न्यायावतारवार्तिक
48	शान्तिषेण	12	प्रमेयरत्नसार

49	शिवार्य	5-6	सिद्धिविनिश्चय
50	शुभचन्द्र	16	षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयसंग्रह
51	शुभप्रकाश	---	न्यायमकरन्दविवेचन
52	समन्तभद्र	2-3	आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन
53	समन्तभद्र (लघु)	13	विषमपदतात्पर्यटीका
54	सिद्धर्षि	10	न्यायावतारटीका
55	सिद्धसेन	4-5	सन्मतितर्क, न्यायावतार
56	सुखप्रकाश		न्यायदीपावली टीका
57	सुमति	8-9	सन्मतितर्क टीका
58	सोमतिलकसूरी	14- 5	षड्दर्शनसमुच्चय टीका
59	श्रीचन्द्रसूरी	12	न्यायप्रवेशहरिभद्रवृत्तिपंजिका
60	श्रीदत्त	7	जल्पनिर्णय
61	हरिभद्र	8	अनेकान्तजयपताका, योगदृष्टिसमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय
62	हेमचन्द्र	11-12	प्रमाणमीमांसा

परिशिष्ट ३

न्याय ग्रन्थ के प्रणेताओं का संक्षिप्त जीवन-परिचय

1 अकलंक (ई 8)

इनका जन्म कर्णाटक प्रान्त के मान्यखेट नगरी के राजा शुभतुंग (राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज प्रथम) के मन्त्री पुरुषोत्तम (अपर नाम लघुहव्व या लघुअव्व) के घर हुआ था।[1] इनकी माता का नाम जिनमती था। 'भट्ट' इनका पद था। इनके भाई का नाम निष्कलंक था। एक बार दोनों भाई बौद्ध तर्कशास्त्र का अभ्यास करने के लिए एक बौद्ध मठ में रहने लगे। वहां इनके जैन होने का पता लग गया। निष्कलंक मारे गए। अकलंक बच निकले। उन्होंने आचार्य पद प्राप्तकर कलिंग नरेश हिमशीतल की सभा में बौद्धों से वाद-विवाद किया। विरोधी पक्ष वाले एक घड़े में तारादेवी की स्थापना करते और उसके प्रभाव में वाद में अजेय बन जाते। अकलंक ने यह रहस्य जान लिया। उन्होंने अपने शासन देवता की आराधना की और घड़े को फोड़ बौद्धों को वाद में पराजित किया।

इनके द्वारा रचित मुख्य ग्रन्थ ये हैं

1 तत्त्वार्थराजवार्तिक सभाष्य।

2 अष्टशती समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा की व्याख्या।

3 लघीयस्त्रय—इसमें प्रमाण, नय और प्रवचन ये तीन प्रकरण हैं।

4 न्यायविनिश्चय प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों का विवेचन।

5 प्रमाणसंग्रह प्रमाण सम्बन्धी विभिन्न विषयों की चर्चा प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ।

6 सिद्धिविनिश्चय प्रमाण, नय आदि विषयों की विवेचना से युक्त।

7 न्यायचूलिका।

इन्हें जैन न्याय का प्रवर्तक कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि इनके समय में ही न्याय शास्त्र को व्यवस्थित रूप मिला। उत्तरकालीन ग्रन्थकार अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, विद्यानंद, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि सभी आचार्यों ने अकलंक द्वारा प्रस्थापित जैन न्याय की पद्धति का अनुसरण या विस्तार किया है। अष्टशती पर विद्यानन्द ने, लघीयस्त्रय पर अभयचन्द्र और प्रभाचन्द्र ने, न्यायविनिश्चय पर वादिराज ने तथा प्रमाणसंग्रह और सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीर्य ने विस्तृत व्याख्याएं लिखीं।

---

1 देवचन्द्रकृत कन्नड भाषा के 'राजवलीकथे' नामक ग्रन्थ में इनके पिता का नाम जिनदास ब्राह्मण बतलाया है।

2 अनन्तकीर्ति (ई० 9 वीं से 11 वीं के बीच)

ये प्रसिद्ध तार्किक आचार्य थे। इन्होंने बृहत्सर्वज्ञसिद्धि और लघुसर्वज्ञसिद्धि नामक ग्रन्थों की रचना की है। प्रशस्ति के अभाव में इनके विषय का कोई विवरण प्राप्त नहीं है। माना जाता है कि इनके बृहत्सर्वज्ञसिद्धि का प्रभाव प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र पर पड़ा है।

3 अनन्तवीर्य (ई० 10 शताब्दी)

ये रविभद्र के शिष्य तथा श्रवणबेलगोला के निवासी थे। ये आचार्य अकलंक के ग्रन्थों के प्रधान टीकाकार थे। इन्होंने 'सिद्धिविनिश्चय' टीका लिखी। ये अकलंक के ग्रन्थों के मर्मज्ञ और यथार्थज्ञाता माने जाते थे। आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी आचार्य अनन्तवीर्य की विद्वत्ता और तलस्पर्शिता के विषय में लिखा है—मैंने अकलंक की तत्त्वनिरूपण पद्धति का तथा अनन्तवीर्य की उक्तियों का सैकड़ों बार अभ्यास कर समझने में सफलता पाई है। आचार्य अकलंक के गूढ प्रकरणों को यदि अनन्तवीर्य के वचनप्रदीप प्रगट नहीं करते तो उन्हें कौन समझ सकता था?

4. अनन्तवीर्य (द्वितीय) (ई० 11 वीं शती)

इन्होंने 'प्रमेयरत्नमाला' की रचना की। इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

5 अभयतिलक (ई० 14 वीं)

सम्भव है ये सोमतिलकसूरी के गुरु भाई हों। ये उपाध्याय पदवी पर सुशोभित थे। इन्होंने 'न्यायालंकारवृत्ति', तर्कन्यायसूत्र टीका, 'पञ्चप्रस्थन्यायतर्क व्याख्या' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे।

6 अभयदेव (ई० 10–11 वीं)

ये चन्द्रकुलीय और चन्द्रगच्छ के प्रद्युम्नसूरी के शिष्य थे। इनके विद्याशिष्यों एवं दीक्षा-शिष्यों का परिवार बहुत बड़ा और अनेक भागों में विभक्त था। इस परिवार में अनेक विद्वान् हुए थे और उनमें से कई विद्वानों ने राजों से प्रचुर सम्मान भी पाया था। इनकी जाति, माता-पिता अथवा जन्मस्थान के विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं है। इनका विहार-क्षेत्र राजस्थान और गुजरात रहा है। इनके दो शिष्य— धनेश्वर और जिनेश्वर बहुत विद्वान् हुए हैं। इन्होंने सन्मति पर तत्त्वबोधविधायिनी नाम की टीका लिखी। इसका अपर नाम है—'वादमहार्णव'।

7 आशाधर (पंडित) (ई० 1188– 250)

ये धारा नगरी की बघेरवाल जाति के वैश्य थे। इनके पिता का नाम सल्लक्षण, माता का नाम श्रीरत्नी, पत्नी का नाम सरस्वती और पुत्र का नाम

छाहड था। इन्होने विद्यार्जन धारा नगरी के 'शारदा सदन' नामक विद्यापीठ मे किया और फिर जैन धर्म के उद्योत के लिए धारा नगरी को छोडकर नलकच्छपुर (नालछा) मे आकर बस गए। लगभग पैंतीस वर्ष तक वही रहकर इन्होने जैन ज्ञान और साहित्य की अपूर्व सेवा की।

पडित आशाधरजी की कुछेक रचनाए

1 प्रमेयरत्नाकर गद्य-पद्यमय ग्रन्थ।

2 ज्ञानदीपिका। धर्मामृत (सागार-अनगार) की स्वोपज्ञ पजिका।

3 मूलाराधना टीका शिवार्यकृत आराधना (प्राकृत) की टीका।

4 आराधनासार टीका। आचार्य देवसेन के आराधनासार नामक प्राकृत ग्रन्थ की टीका।

८ उमास्वाति (ई० 44–85)

इन्होने तत्त्वार्थसूत्र (मोक्ष मार्ग) की रचना की। सस्कृत का यह आदि ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ की रचना का भी एक इतिहास है।

सौराष्ट्र मे द्वैपायन नाम का एक श्रावक रहता था। उसके मन मे एक वार यह विचार आया कि उसे मोक्षमार्ग विषयक कोई ग्रन्थ तैयार करना चाहिए। गहरे चिन्तन के बाद उसने यह प्रतिज्ञा की "मैं रोज एक सूत्र की रचना करके ही भोजन करूगा, अन्यथा उस दिन उपवास रखूगा।' इस सकल्प के अनुसार उसने पहला सूत्र बनाया—'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।' विस्मृति के भय से उसने इसे एक खभे पर लिख दिया। दूसरे दिन वह कार्यवश बाहर चला गया। एक मुनि भिक्षा के लिए उसके घर आए। लौटते समय उनकी दृष्टि उस स्तभ पर पडी जिस पर पहला सूत्र लिखा हुआ था। उन्होने उसे पढा और प्रारम्भ मे 'सम्यग्' शब्द जोडकर वे वहा से चले गए। श्रावक द्वैपायन घर आया। सूत्र के आगे 'सम्यग्' सब्द की योजना से उसका मन प्रफुल्लित हो उठा और उसे अपने ज्ञान की न्यूनता का बोध हुआ। वह मुनि के पास पहुचा और ग्रन्थ-निर्माण के लिए मुनि को निवेदन किया। मुनि उसकी भावना को आदर दे, ग्रन्थ-निर्माण मे लग गए। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप दस अध्यायो मे विभक्त तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई। तत्त्वार्थसूत्र और और उसका भाष्य—ये इनकी दो मुख्य रचनाए है। श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनो परम्पराए इन्हे समान रूप से आदर देती हैं।

९ कुन्दकुन्द (ई० 127–179)

प्राचीन उल्लेख के अनुसार इनका जन्मस्थान दक्षिण भारत का 'हेमग्राम' था। इसकी पहचान तामिलनाडु प्रान्त के 'पोन्नूर' गाव से की जाती है। उसे ही

कोण्डकुण्डपुर (कुण्डकुन्दपुर) कहा जाता रहा हो। इनके पास नीलगिरि की पहाड़ी पर आचार्य कुन्दकुन्द की चरण पादुकाएं भी हैं। इनके पांच नाम थे— पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव एलक और गृद्धपिच्छ।

1 पद्मनन्दि दीक्षा समय का नाम।
2 कुन्दकुन्द — गांव के कारण प्रचलित नाम।
3 वक्रग्रीव गर्दन कुछ टेढ़ी होने के कारण प्रचलित नाम।
4 एलक।
5 गृद्धपिच्छ—विदेह क्षेत्र से लौटते समय रास्ते में मयूर पिच्छ के गिर जाने पर गृद्धपिच्छ लेकर लौटे। अत उक्त नाम प्रचलित हुआ।

माना जाता है कि ये चरणजटद्धि मे सम्पन्न थे। और भूमि से चार अंगुल ऊपर चलते थे।

इनके दीक्षागुरु जिनचन्द्र और शिक्षागुरु कुमारनन्दि थे। ये अर्हद्बलि द्वारा स्थापित (वी नि 593) नन्दि संघ के तीसरे प्रभावी आचार्य थे।

इन्होंने 84 पाहुडों (प्राभृत) की रचना की किन्तु आज केवल 12 पाहुड ही उपलब्ध हैं। उनमें से दसण पाहुड चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड और मोक्खपाहुड पर श्रुतसागरसूरि की टीका भी उपलब्ध है। इनके दूसरे मुख्य ग्रन्थ हैं- समयसार, प्रवचनसार पचास्तिकाय, नियमसार रयणसार आदि। इन्होंने षट्खण्डागम ग्रन्थ के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम की टीका भी लिखी थी। समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय मे न्यायशास्त्र की प्रारंभिक चर्चा प्राप्त है।

१० कुमारनन्दि (ई० 776)

ये चन्द्रनन्दि के शिष्य थे। इनके शिष्य कीर्त्तिनन्दि और प्रशिष्य विमलचन्द्र थे।

इन्होंने 'वादन्याय' नाम का एक ग्रन्थ रचा था। ये कुन्दकुन्द के अन्वय के थे।

११ गुणरत्नसूरी (ई० 1400- 475)

ये अपने काल के प्रभावक आचार्य श्री देवसुन्दरसूरी के शिष्य थे। इनका विहारक्षेत्र गुजरात राजस्थान रहा है। ये वादविद्या में कुशल थे। इन्होंने क्रियारत्नसमुच्चय, कर्मग्रन्थ, अवचूरि, आदि ग्रन्थ लिखे। इन्होंने आचार्य हरिभद्रकृत षट्दर्शनसमुच्चय पर 'तर्करहस्यदीपिका' नाम की टीका लिखी।

१२. ज्ञानचन्द्र (ई० 14-15 वी)

ये साधुपूर्णिमा (सार्वपूर्णिमा) गच्छ के आचार्य गुणचन्द्र के शिष्य थे। ये राजशेखर के समकालीन थे। इन्होंने रत्नाकरावतारिका पर टिप्पनक लिखा।

१३. चन्द्रसेन (ई० 12–13 वी)

ये प्रद्युम्नसूरी के शिष्य थे। इन्होंने वि० 1207 मे 'उत्पादसिद्धि' नाम के ग्रन्थ की रचना की।

१४ जिनदत्तसूरी (ई० 13 वी)

ये वायडगच्छ के जीवदेवसूरी के शिष्य थे। इन्होंने 'विवेकविलास' की रचना की[2]। इसके अष्टम उल्लास मे 'षड्दर्शनविचार' नाम का प्रकरण है।

१५ जिनपतिसूरी (ई० 13 वी)

ये 'प्रबोधवादस्थल के कर्त्ता है।

१६ जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (ई० 6–7)

ये बहुश्रुत विद्वान् थे। इनका प्रमुख ग्रन्थ है- विशेषावश्यकभाष्य। इसमे आगमिक विषयो की गभीर चर्चा तथा यथाप्रसग मतातरो की चर्चा भी प्राप्त है। इसमे तर्कशास्त्र के विभिन्न अगो पर स्वतन्त्र विचार मिलते है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हे व्याख्याताओ मे अग्रणी माना है।

१७ जिनेश्वरसूरी (ई०12–13 वी)

धारा नगरी मे एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसका नाम था लक्ष्मीपति। उसके पास मध्यप्रदेश का एक ब्राह्मण रहता था। उसके दो पुत्र थे– श्रीधर और श्रीपति। दोनो आचार्य वर्धमानसूरी के पास दीक्षित हुए। उनका नाम जिनेश्वर और बुद्धिसागर रखा गया। आगे चलकर जिनेश्वरसूरी ने खरतरगच्छ की स्थापना की।

इन्होंने जाबालपुर मे रहते हुए अनेक ग्रन्थ रचे। उनमे मुख्य है– पञ्चलिंगी-प्रकरण, हरिभद्राष्टकटीका, प्रमालक्ष्म सटीक।

१८ देवनन्दि (पूज्यपाद) (ई० 5 6)

इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध माना जाता है। वि० की दसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध (990) मे लिखे गए दर्शनसार ग्रन्थ मे यह

2 यह सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय, आगरा से वि० 1976 मे प्रकाशित हो चुका है।

उल्लेख प्राप्त होता है कि पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि० स० 526 मे दक्षिण मथुरा (मदुरा) मे द्राविड सघ की स्थापना की थी। देवनन्दि कुन्दकुन्द आम्नाय के देशीयगण के आचार्य चन्द्रनन्दि के शिष्य या प्रशिष्य थे। इनके मुख्य ग्रन्थ ये है

1 जैनेन्द्र व्याकरण

2 सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध पहली टीका।

3 समाधितन्त्र।

4 शब्दावतार -पाणिनि व्याकरण पर न्यास।

5 जैनेन्द्र न्यास जैनेन्द्र व्याकरण पर स्वोपज्ञ न्यास।

१६ देवप्रभसूरी (ई० 12–13 वी)

ये मलधारी हेमचन्द्र के प्रशिष्य श्रीचन्द्रसूरी के शिष्य थे। इन्होंने 'न्यायावतार टिप्पण' लिखा।

२० देवभद्र (ई० 11–12)

ये नवागी टीकाकार अभयदेव के शिष्य प्रसन्नचन्द्र के शिष्य थे। इनका पहला नाम गुणचन्द्र गणी था। इन्होंने अनेक ग्रन्थो की रचना की। तर्कशास्त्र पर 'प्रमाणप्रकाश नामक ग्रन्थ भी लिखा।

२१ देवसेन (ई० 10)

इनके गुरु का नाम श्री विमलसेन गणधर था[3]। ऐसा माना जाता है कि ये आचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय के आचार्य थे। इन्होंने धारा नगरी मे पार्श्वनाथ के मन्दिर मे वि० स 990 माघ शुक्ला दशवी को दर्शनसार नामक ग्रन्थ की रचना की[4]।

२२ धर्मभूषण (ई 14–15)

ये नन्दिसघ के आचार्य थे। इन्होंने 'न्यायदीपिका' और 'प्रमाणविस्तार'— ये दो न्यायविषयक ग्रन्थ लिखे।

---

3 भावसग्रह, 701 सिरिविमल सेणगणहरसिस्सो,
णामेण देवसेणो त्ति।

4 दर्शनसार, 49,50 पुव्वायरियकयाइ गाहाइ सचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए सवसतेण ॥
रइओ दसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥

23. नरचन्द्रसूरी (ई 13 वी)

ये देवप्रभसूरी के शिष्य थे। इन्होंने न्यायकदली पर टीका लिखी।

24 पात्रकेसरी (ई० 5–6 शताब्दी)

इनका जन्म ब्राह्मण कुल मे हुआ था। ये अहिच्छत्र नगर के राजपुरोहित थे। समन्तभद्र द्वारा रचित देवागमस्तोत्र सुनकर ये जैन मुनि बने। ये न्यायशास्त्र के पारगत विद्वान् थे। इनका न्याय-विषयक ग्रन्थ है त्रिलक्षणकदर्थन बौद्ध आचार्यों द्वारा निरूपित हेतु के लक्षणो का खडन करने वाला ग्रन्थ। यह अभी उपलब्ध नही है।

25 प्रद्युम्नसूरी (ई० 12 वी)

इनके शिष्य 'चन्द्रसेन' थे। इन्होंने 'वादस्थल' नाम का ग्रन्थ रचा।

26 प्रभाचन्द्र (ई० 980-1065)[5]

इनके गुरु गोल्लाचार्य के शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिक थे। इनका कार्यक्षेत्र धारानगरी तथा उसके आसपास का क्षेत्र रहा है। ये मूल सघ के अन्तर्गत नन्दिगण की आचार्य-परम्परा मे हुए थे। ये धारानगरी के राजा भोज के मान्य विद्वान् थे। इनके सधर्मा श्रीकुलभूषण मुनि थे। इन्होंने स्वतन्त्र रूप से भी अनेक ग्रन्थो की रचना की तथा अनेक ग्रन्थो पर व्याख्याए लिखी। गद्यकथाकोश इनकी स्वतन्त्र रचना है। व्याख्या ग्रन्थो मे मुख्य ये है

1 प्रमेयकमलमार्तण्ड आचार्य माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख की व्याख्या।

2 न्यायकुमुदचन्द्र---आचार्य अकलक के लघीयस्त्रय की व्याख्या। इसमे प्रमाण विषयो के साथ प्रमेय विषयो की चर्चा है।

3 तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या।

4 शाकटायन न्यास शाकटायन व्याकरण की व्याख्या।

5 शब्दाम्भोजभास्कर—जैनेन्द्र व्याकरण का महान्यास।

6 प्रवचनसारसरोजभास्कर कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की टीका।

विद्वानो की मान्यता है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैन न्याय के आकर ग्रन्थ है और जैनदर्शन के मध्ययुगीन ग्रन्थो मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है। यद्यपि ये व्याख्याए है, फिर भी आचार्य प्रभाचन्द्र की बहुश्रुतता पग-पग पर मुखर हुई है और ये ग्रन्थ उत्तरकालीन न्याय विषयक ग्रन्थो के लिए आधारभूत बने हैं।

---

5 न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 2, प्रस्तावना पृ० 58।

27 भावसेन (ई० 12-13 वीं)

ये सेनगण के आचार्य थे। इन्हें 'त्रैविद्य' की उपाधि प्राप्त थी। इनके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हैं उनमे दो ग्रन्थ न्याय-विषयक हैं

1 विश्वतत्त्वप्रकाश विभिन्न दर्शनो के मतव्यो का जैनदृष्टि से परीक्षण।

2 प्रमाप्रमेय—जैनदृष्टि से प्रमाणो की व्याख्या।

अप्रकाशित ग्रन्थो मे न्याय के ग्रन्थ ये हैं

न्यायदीपिका, न्यायसूर्यावली।

28 मल्लवादी (ई० 4-5 शती)

ये सौराष्ट्र मे वलभीपुर के निवासी थे। इनकी माता का नाम दुर्लभदेवी था। इन्होंने अपने मातुल आचार्य जिनानन्द से दीक्षा ली। वे बहुत बड़े तार्किक थे। एक बार वे बौद्ध आचार्य से पराजित हो गए। इसके फलस्वरूप राजा शिलादित्य ने जैन मुनियो को अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। यह बात मल्लवादी को बहुत अप्रिय लगी। वे तर्कशास्त्र के गहन अध्ययन मे दत्तचित्त हुए और राजा शिलादित्य के दरबार मे बौद्ध आचार्यों को पराजित किया। इन्होंने 'द्वादशार-नयचक्र' की रचना की, किन्तु वह आज मूलरूप मे उपलब्ध नही है। सिंहसूरी द्वारा लिखित टीका के आधार पर उसका पुनरुद्धार करने का प्रयत्न हुआ है।

29 मल्लवादी (ई० 700-750)

इन्होंने धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु पर धर्मोत्तर की टीका पर टिप्पनक लिखा जो अभी तक अमुद्रित है।

30 मल्लिषेण (ई० 14 वीं)

ये नागेन्द्रगच्छीय उदयप्रभसूरी के शिष्य थे। इन्होंने जिनप्रभसूरी की सहायता से 'स्याद्वादमञ्जरी' ग्रन्थ का निर्माण किया। वह हेमचन्द्र द्वारा रचित अन्ययोगव्यवच्छेदिका की टीका है। उपाध्याय यशोविजयजी ने स्याद्वादमञ्जरी पर स्याद्वादमञ्जूषा नाम की वृत्ति लिखी है।

31 माणिक्यनन्दि (ई० 993-1053)

नन्दिसघ देशीयगण गुर्वावली के अनुसार ये त्रैकाल्ययोगी के शिष्य थे और प्रभाचन्द्र के गुरु। 'परीक्षामुख' इनकी प्रमुखकृति है। इस पर इनके विद्वान् शिष्य प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नाम की टीका लिखी।

परीक्षामुख ग्रन्थ पर आचार्य शुभचन्द्रदेव ने—'परीक्षामुखवृत्ति' तथा आचार्य शांतिवर्णी ने 'प्रमेयकण्ठिका' नाम की टीका लिखी।

32 मुनिचन्द्रसूरी (ई० 12 वीं)

ये वृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य थे। इनके गुरुभाई का नाम था नेमिचन्द्रसूरी, जिन्होने उत्तराध्ययन सुत्र पर 'सुखबोधा' वृत्ति लिखी थी। माना जाता है कि इस वृत्ति के लिखने मे मूल प्रेरक मुनिचन्द्रसूरी ही थे।

शातिसूरी के वत्तीस शिष्य थे। वे अपने गुरु के पास प्रमाण-शास्त्र का अभ्यास करते थे। एक वार मुनिचन्द्र नाडोल से विहार कर वहाँ पहुचे और शातिसूरी द्वारा दी जाने वाली वाचना को खडे-खडे ही सुनकर चले गए। यह क्रम पन्द्रह दिनो तक चलता रहा। सोलहवे दिन वत्तीस शिष्यो के साथ-साथ उनकी भी परीक्षा ली गई। मुनिचन्द्र की प्रतिभा से प्रभावित होकर शातिसूरी ने उन्हे अपने पास रखा और प्रमाणशास्त्र का गहरा अध्ययन करवाया।

इन्होंने अनेकान्तजयपताकावृत्ति पर टिप्पण लिखा।

33 मेरुतुग (ई० 15 वी)

ये अचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरी के शिष्य थे। प्रसिद्ध दीपिकाकार माणिक्य-शेखरसूरी इन्ही के शिष्य थे। इन्होने 'षट्दर्शननिर्णय' नाम का ग्रन्थ लिखा।

34 यतिवृषभ (ई० 5-6)

इनकी महत्त्वपूर्ण रचना है- तिलोयपण्णत्ती'। यह आठ हजार श्लोको मे वद्ध प्राकृत रचना है। हरिषेण के कथाकोश मे प्राप्त एक कथा के अनुसार एक वार आचार्य यतिवृषभ श्रावस्ती नगरी के राजा जयसेन को धर्मवोध देने गए। वहा किसी शत्रु द्वारा भेजे गए एक गुप्तचर ने यतिवृषभ के शिष्य का वेश धारण कर राजा की एकान्त मे हत्या कर दी। तव जैन सघ को राजघात के कलक से वचाने के लिए यतिवृषभ ने आत्म-वलिदान किया [7]

35 रत्नप्रभसूरी (ई० 12–13 वी)

ये प्रमाणनयतत्त्वालोक के रचयिता वादी देवसूरी के शिष्य थे। विजयसेन-सूरी इनके दीक्षा गुरु थे। प्रमाणनयतत्त्वालोक पर 'स्याद्वादरत्नाकर' नाम की स्वोपज्ञ टीका है। इस टीका के प्रणयन मे रत्नप्रभसूरी ने सहयोग दिया था, ऐसा आचार्य देवसूरी ने उल्लेख किया है। यह टीका अत्यन्त गहन थी इसलिए रत्नप्रभ ने इस पर 'रत्नाकरावतारिका नाम की एक लघु टीका लिखी। परन्तु वह भी

6 कुछ इन्हे यशोभद्र के शिष्य मानते है।

7 वीरशासन के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ 39।

इतनी सरल नहीं बनी। फिर अनेक आचार्यों ने इस पर पञ्जिका और टिप्पण लिखे।

36 राजेश्वरसूरी (ई 14–15)

ये मलधारी अभयदेवसूरी के सतानीय हर्षपुरीय मलधारी गच्छ के आचार्य तिलकसूरी के शिष्य थे। इन्होने विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी के पहले दूसरे दशक मे रत्नावतारिका पर पंजिका लिखी। इन्होंने स्याद्‌वादकलिका, षट्‌दर्शनसमुच्चय, आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की।

37 रामचन्द्रसूरी (ई० 13 वी)

ये कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन्होने 'व्यतिरेकद्वात्रिंशिका' ग्रन्थ लिखा।

38 वसुनन्दि (ई० 11–12)

ये श्री नेमिचन्द्र के शिष्य थे। इनका अपर नाम 'जयसेन' था। इनकी कृतियां हैं - आप्तमीमांसावृत्ति, मूलाचारवृत्ति, वस्तुविद्या, श्रावकाचार आदि-आदि। श्रावकाचार का अपर नाम 'उपासकाध्ययन' है। इस ग्रन्थ के अन्त मे इन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार श्री कुन्दकुन्द की परम्परा मे श्रीनन्दी नाम के आचार्य हुए। उनके शिष्य थे नयनन्दी और नयनन्दी के शिष्य थे श्रीनेमीचन्द्र। ये इनके गुरु थे।

39 वादिदेवसूरी (ई० 1087–1170)

ये श्रीमुनिचन्द्रसूरी के पट्टशिष्य थे। इनका जन्म गुर्जर देश के प्राग्वाटवंश मे वि स 1087 मे हुआ। ये नौ वर्ष की अवस्था (1096) मे भड़ौच नगर मे दीक्षित हुए और इकतीस वर्ष की अवस्था मे वि स 1118 मे आचार्य पद पर आसीन हुए। अणहिलपुर मे राजा जयसिंह सिद्धराज की सभा मे दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र से वाद हुआ और उसके बाद ही इन्हे 'वादी' की उपाधि प्राप्त हुई। माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख का परिवर्धन कर इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोक की रचना की और उस पर 'स्याद्‌वादरत्नाकर' नामक बृहत्काय व्याख्या लिखी। इनका स्वर्गवास 1117 मे हुआ।

भद्रेश्वर इनके पट्टधर शिष्य हुए और रत्नप्रभ प्रमुख शिष्य। रत्नप्रभ के स्याद्‌वादरत्नाकर का संक्षिप्तरूप रत्नाकरावतारिका के नाम से प्रसिद्ध है।

40 वादिराजसूरी (ई 11)

ये दक्षिण के सोलंकी वंश के प्रसिद्ध नरेश जयसिंह (प्रथम) की राजसभा के सम्मानित वादी थे। इनके द्वारा रचित पार्श्वनाथ चरित्र की प्रशस्ति से पता लगता

है कि ये 'कट्टगेरी' के आसपास के निवासी थे। यह अब भी एक साधारण सा गाव है, जिसके भग्नावशेषो से यह ज्ञात होता है कि यह कभी बडा शहर रहा होगा। ये नन्दिसघ के अरूगल अन्वय के आचार्य श्रीमाल के शिष्य मतिसागर के शिष्य थे। इनके गुरुबन्धु का नाम दयापाल था। 'वादिराज यह एक तरह की पदवी थी। इनका यथार्थ नाम क्या था, यह अज्ञात है। 'षट्तर्कषण्मुख' 'स्याद्वादविद्यापति' और 'जगदेकमल्लवादी' ये इनकी उपाधिया थी।[8]

41 वादीभसिंह (ई 8–9)

यह पदवी है नाम नही। इस पदवी के धारक अनेक आचार्य हुए है। ये आचार्य पुष्पषेण अकलक के शिष्य वादीभसिंह है। आचार्य पुष्पषेण अकलक के गुरुभाई थे। वादीभसिंह का मूल नाम क्या था, यह अज्ञात है। इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं 1 स्याद्वादसिद्धि और 2 नवपदार्थनिश्चय।

42 विद्यानन्दि (विद्यानन्द) (ई 775–840)

जैन तार्किको मे इनका विशिष्ट स्थान था। ये मगध की राज्य सभा के प्रसिद्ध विद्वान् थे। ये एक बार पार्श्वनाथ भगवान् के मदिर मे चरित्रभूषण मुनि के मुख से आचार्य समतभद्र द्वारा रचित देवागमस्तोत्र का पाठ सुनकर प्रतिबुद्ध हुए। माना जाता है कि ये अकलक की आम्नाय मे उनके कुछ ही समय पश्चात् हुए थे। इनकी प्रमुख रचनाए है

1 प्रमाणपरीक्षा	2 प्रमाणमीमासा	3 प्रमाणनिर्णय
4 आप्तपरीक्षा	5 जल्पनिर्णय	6 नयविवरण
7 युक्त्यनुशासन	8 अष्टसहस्री	9 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
10 पत्रपरीक्षा।		

ये दक्षिण के महान् टीकाकार थे। इन्होने समतभद्र की आप्तमीमासा और उस पर अकलकदेव के अष्टशती भाष्य को सवद्ध कर अष्टसहस्री नामक ग्रन्थ की रचना की। इनका 'विद्यानन्द महोदय' ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

43 विमलदास (ई 15)

ये जैन गृहस्थ थे। इनका निवास-स्थान तेजानगर और गुरु अनन्तदेव स्वामी थे। इन्होने 'सप्तभगीतरगिणी' की रचना की।

8 षट्कर्णषण्मुख स्याद्वादविद्यापतिगलु जगदेकयल्लवादिगलुएतिमिद श्रीवादिराजदेवरुम्— मि राइस द्वारा सपादित नगर तालुक्का के इन्स्क्रिप्सन न 36।

.4 शांतिसूरी (ई 11)

ये पूर्णतल्ल गच्छ के आचार्य वर्धमान के शिष्य थे। इन्होंने सिद्धसेन के यायावतार पर वार्तिक की रचना की और उस पर टीका भी लिखी। इसके चार प्रकरण है— प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

45 शांतिषेण (ई 13)

इनका 'प्रमेयरत्नसार' नामका ग्रन्थ उपलब्ध है।

46 शिवार्य

ये भगवती आराधना के कर्ता हैं। इन्होंने सस्कृत मे 'सिद्धिविनिश्चय' नामका ग्रन्थ लिखा।

47 शुभचन्द्र (ई० 1516-1556)

ये विजयकीर्ति के शिष्य तथा लक्ष्मीचन्द्र के गुरु थे। इन्हे 'षट्भाषा कवि' की उपाधि थी। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनमे से कुछ ये हैं प्राकृत व्याकरण, अगपण्णत्ति, समस्यावदनविदारण, षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयसग्रह, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका, आदि-आदि।

48 समन्तभद्र (ई० 2-3)

ये उरगपुर के राजा के पुत्र थे। इनका जन्मकालीन नाम शांतिवर्मा था। ये महावादी थे। इनको दस विशेषण प्राप्त थे। आचार्य, कवि, वादिराट्, पडित, दैवज्ञ, भिषक्, मात्रिक, तात्रिक, आज्ञासिद्ध और सिद्धसारस्वत। इन विशेषणों से इनकी बहुश्रुतता का सहज बोध हो जाता है। इनकी मुख्य रचनाए हैं

1 षट्खडागम के प्रथम पाच खडों पर टीका,
2 कर्मप्राभृत टीका
3 गधहस्तिमहाभाष्य
4 आप्तमीमासा
5 युक्त्यनुशासन
6 तत्त्वानुशासन
7 स्वयभूस्तोत्र

49 समन्तभद्र (लघु) (ई० 13)

इन्होंने अष्टसहस्री (विद्यानन्दिकृत) पर 'विषमपदतात्पर्यटीका' लिखी है।

50 सिद्धर्षि (ई० 9-10)

ये आचार्य दुर्गस्वामी के शिष्य थे। इन्होंने वि म 962 ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' की रचना की। इन्होने सिद्धसेन के 'न्यायावतार' पर टीका भी लिखी।

51 सिद्धसेन दिवाकर (ई० 4-5 शती)

ये विद्याधर गोपाल से निकली हुई विद्याधर शाखा के आचार्य वृद्धवादी के शिष्य थे। इनका जन्म दक्षिण के ब्राह्मण कुल मे हुआ था। एक बार इन्होने आगमो का सस्कृत अनुवाद करने का प्रयत्न किया, किन्तु गुरु द्वारा निषिद्ध करने पर प्रयत्न छोड दिया।

इनके प्रमाण विषयक दो ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण है

1 सन्मतितर्क 167 प्राकृत गाथाओ मे नयवाद का विशद निरूपण प्राप्त है।

2 न्यायावतार 32 सस्कृत श्लोको मे प्रमाणो का सक्षिप्त विवेचन है। प्रमाण का यह आद्य-ग्रन्थ माना जाता है।

52 सुमति (ई० 8–9)

वादिराजसूरी ने अपने द्वारा रचित पार्श्वनाथचरित मे इनके 'सन्मतितर्कटीका' का उल्लेख किया है। मल्लिषेण प्रशस्ति मे इनके 'सुमतिसप्तक' ग्रन्थ का उल्लेख है।

53 सोमतिलकसूरी (वि 1355-1424)

इनका दूसरा नाम विद्यातिलक था। इनका जन्म वि 1355, दीक्षा वि 1369, आचार्यपद वि 1373 और मृत्यु वि. 1424 मे है।[9] इन्होने हरिभद्रकृत षट्दर्शनसमुच्चय पर आदित्यवर्धनपुर मे वृत्ति की रचना की।

54 श्रीचन्द्रसूरी (ई० 12 वी)

ये शीलभद्रसूरी के शिष्य थे। इनका दूसरा नाम पार्श्वदेवगणि था। इन्होने अनेक आगमो पर टीकाए लिखी। इन्होने दिङ्नाग कृत न्यायप्रवेश पर हरिभद्रसूरी द्वारा कृत टीका पर पञ्जिका लिखी। उसका नाम है न्यायप्रवेशहरिभद्रवृत्ति-पञ्जिका।

---

9 गुर्वावली 273,291

55 श्रीदत्त (ई 6)

ये पूज्यवाद से कुछ पहले हुए हैं। ये महान् तार्किक आचार्य थे। विक्रम की चौथी शताब्दी मे होने वाले विद्यानन्दी जैसे महान् तार्किक आचार्य के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अनुसार इन्होने 62 वादियों को पराजित किया था। इन्होने 'जल्पनिर्णय' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। वह अप्राप्य है।

56 हरिभद्र (ई 7-8)

ये चित्रकूट (चित्तौड) के ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए थे। इन्होने जैन साध्वी याकिनी द्वारा प्रतिबुद्ध होकर जैन दीक्षा ग्रहण की। ये विद्याधर गच्छ के आचार्य जिनभट्ट के शिष्य थे। इनके दीक्षागुरु का नाम जिनदत्त था। ये संस्कृत के प्रथम टीकाकार और बहुविध साहित्य के स्रष्टा थे।

इन्होंने जैन दर्शन के संवर्धन मे अपूर्व काम किया। इनकी कुछेक न्यायविषयक रचनाए ये है—अनेकान्तजयपताका, योगदृष्टिसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय। इनके द्वारा रचित लगभग सौ ग्रन्थों का अब तक पता लगा है। ये 1444 प्रकीर्णकों के रचयिता माने जाते हैं।[10]

57 हेमचन्द्र (ई 1088-1172)

इनका जन्म गुजरात के धन्धूका नगर के एक वैश्य परिवार मे सन् 1088 मे हुआ। बाल्य अवस्था मे ये आचार्य देवचन्द्र के संघ मे दीक्षित हुए और बाइसवे वर्ष मे आचार्य बने। ये कलिकालसर्वज्ञ कहलाते थे। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं

1 सिद्धहेमशब्दानुशासन
2 अनेकार्थचिन्तामणिकोष
3 अभिधानचिन्तामणिकोष
4 देशीनाममाला
5. काव्यानुशासन
6 छन्दोनुशासन
7 इनका तर्कशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है—प्रमाणमीमासा।

10 इनके परम्परागत वृत्तान्त के लिए देखे प्रभावकचरित्र मे हरिभद्र वृत्तान्त।

परिशिष्ट ४

पारिभाषिक शब्द विवरण

अतीन्द्रियज्ञान	केवल आत्मा से उद्भूत प्रत्यक्ष ज्ञान ।
अद्वैतवाद	--एक सर्वव्यापी तत्त्व को स्वीकार करनेवाला सिद्धान्त ।
अधर्मास्तिकाय	लोकव्यापी स्थिति-सहायक द्रव्य ।
अध्यवसाय	निर्णयात्मक दृष्टिकोण ।
अनध्यवसाय	- वस्तु का अस्पष्ट-बोध, वह ज्ञान जो विकल्प की स्थिति तक न पहुचे ।
अनाकार	--आकार का अर्थ है विशेष या विकल्प । जिसमे आकार न हो विशेप (भेद) या विकल्प न हो वह अनाकार अर्थात् निर्विकल्प । अनाकार बोध दर्शन है और साकार बोध ज्ञान ।
अनिर्वचनीय	— जिसका निर्वचन न किया जा सके ।
अनुभववाद	इन्द्रिय-सवेदनो को वास्तविक ज्ञान मानने वाला सिद्धान्त ।
अनुमान	साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान ।
पूर्ववत्	कारण से कार्य का अनुमान ।
शेषवत्	कार्य से कारण का अनुमान ।
सामान्यतोदृष्ट / दृष्टसाधर्म्यवत्	— सामान्य धर्म के द्वारा होने वाला अनुमान ।
अनेकान्त	- अनन्त धर्मात्मक वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान ।
सम्यक् अनेकान्त	—प्रमाण ।
मिथ्या अनेकान्त	प्रमाणाभास ।
अनेकात्मवाद	अनेक आत्माओ की स्वीकृति वाला सिद्धान्त ।
अन्वय	साध्य मे ही साधन का होना ।
अभाव	अनुपलब्धि प्रमाण । 'यह भूतल घटशून्य है क्योकि यहा घट अनुपलब्ध है ।'
अभिनिबोध	साधन मे होनेवाला साध्य का ज्ञान, अनुमान ।
अभिन्नदशपूर्वी	—नौ पूर्वो (आगम शास्त्रो) तथा दसवें पूर्व (विद्यानुप्रवाद) की तीसरी वस्तु (अध्याय) का ज्ञाता ।
अभ्युपगम	स्वीकृत सिद्धान्त ।
अर्थक्रियाकारित्व	जिसका अस्तित्व है उसमे कुछ न कुछ क्रिया होती रहती है । यह 'अर्थक्रियाकारित्व' ही वस्तु का लक्षण है ।
अर्थपर्याय	क्षणवर्ती पर्याय ।

अर्थापत्ति — दृष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। जैसे देवदत्त मोटा है। वह दिन में कुछ नहीं खाता। इन दोनों वाक्यों के विरोधाभास को हम इस वाक्य में समाहित करते हैं कि 'देवदत्त रात में भोजन करता है।' यह अर्थापत्ति है।

मीमांसकों द्वारा सम्मत प्रमाण का एक प्रकार।

अवग्रह इन्द्रिय और अर्थ का योग होने पर दर्शन के पश्चात् होने वाला सामान्यबोध।

अवस्तुवादी दर्शन — आदर्शवादी दर्शन, ज्ञानवादी दर्शन। इसके अनुसार वस्तु की सत्ता वास्तविक नहीं होती।

अवाय निर्णयात्मक ज्ञान।

अविनाभाव — सहभाव और क्रमभाव का नियम।

असत्कार्यवाद — कारण को सत् और कार्य को असत् माननेवाला सिद्धान्त। न्याय और वैशेषिक दर्शनों का अभिमत। इसे आरम्भवाद भी कहते हैं।

अस्तित्व वस्तु का विध्यात्मक धर्म।

आकाशास्तिकाय लोक-अलोक व्यापी अवगाहनगुण वाला द्रव्य।

आगमपुरुष आप्तपुरुष, यथार्थद्रष्टा। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने और ज्ञान के अनुसार उसका प्रतिपादन करने वाला पुरुष।

आगमयुग ईसा पूर्व 599 से ईसा की पहली शताब्दी तक का युग।

आन्वीक्षिकी — तर्क-विद्या।

आरम्भवाद — असत्कार्यवाद का अपरनाम।

आर्यसत्य दुःख, दुःख-हेतु, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध का उपाय — बौद्ध दर्शन सम्मत चार आर्यसत्य।

ईहा — विधि-निषेध पूर्वक 'अमुक होना चाहिए' ऐसा प्रत्यय।

उपचार — इसके दो अर्थ हैं

1 अत्यन्त भिन्न शब्दों में भी किसी एक समानता के आधार पर उनकी भिन्नता की उपेक्षा करना।

2 मुख्य के अभाव में गौण को मुख्यवत् मानना।

उपयोग — चेतना की प्रवृत्ति।

साकार	सविकल्प चेतना की प्रवृत्ति ज्ञान।
अनाकार	निर्विकल्प चेतना की प्रवृत्ति—दर्शन।
उपादान	मूल कारण।
एकान्त	अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का निश्चय।
सम्यक् एकान्त	नयदृष्टि।
मिथ्या एकान्त	दुर्नय।
एकात्मवाद	एक सर्वव्यापी आत्मा की स्वीकृति।
ऐतिह्य	—पौराणिकों द्वारा सम्मत एक प्रमाण।
क्रियमाणकृत	—देखें—प्रकरण चौथा।
कूटस्थनित्यवाद	आत्मा को सर्वथा अपरिवर्तनीय मानने वाला सिद्धान्त।
क्षणिकवाद	—सब द्रव्यों को क्षणवर्ती स्वीकृत करनेवाला बौद्ध सिद्धान्त।
गुण	—वस्तु का सहभावी धर्म।
ज्ञान	
मतिज्ञान	इन्द्रिय और मन से होनेवाला ज्ञान।
श्रुतज्ञान	—वाच्य-वाचक संबंध की योजना से होनेवाला मानसिक ज्ञान।
अवधिज्ञान	—अतीन्द्रिय ज्ञान का एक प्रकार। मूर्त्त द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान।
मनःपर्यवज्ञान	—अतीन्द्रिय ज्ञान का एक प्रकार। मन का साक्षात् ज्ञान।
केवलज्ञान	—अतीन्द्रिय ज्ञान का एक प्रकार। सर्वथा अनावृत ज्ञान, कोरा ज्ञान, निरुपाधिक ज्ञान।
ज्ञानान्तरवेद्य	उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा पूर्ववर्ती ज्ञान को जानना, ज्ञान का स्व-संवेदी न होना।
चिन्ता	नियमों का निर्णायक-बोध, तर्क या ऊह।
चेतना	—आत्मा का एक गुण। इसी गुण के द्वारा जीव की अजीव से स्वतन्त्र सत्ता स्थापित होती है।
लब्धि	ज्ञेय को जानने की क्षमता।
उपयोग	—ज्ञेय को जानने की प्रवृत्ति।
छद्मस्थ	—वह पुरुष जिसका ज्ञान पूर्णतः निरावृत नहीं होता।
जातिस्मृति	पूर्वजन्मों का ज्ञान।

तर्क —अन्वय और व्यतिरेक का निर्णय।

दर्शन सत्ता मात्र का बोध, निर्विकल्प बोध।

दशपूर्वी — दशपूर्वो (शास्त्रों) का ज्ञाता।

दुर्नय अपने अभिप्रेत वस्तुधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का निराकरण करनेवाला विचार-विकल्प।

दृष्टान्त —व्याप्ति का प्रतीति-स्थल। साध्य के समान किसी अन्य प्रदेश का निर्देश करना। इसके दो भेद हैं अन्वयी दृष्टान्त और व्यतिरेकी दृष्टान्त।

द्वैतवाद —दो तत्त्वों (चेतन और अचेतन) की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत करने वाला सिद्धान्त।

धर्मज्ञ वेदों के आधार पर धर्म को जानने वाला।

धर्मास्तिकाय लोकव्यापी गति-सहायक द्रव्य।

धारणा निर्णयात्मक ज्ञान की अवस्थिति, संस्कार या वासना।

नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के विवक्षित अंश का ग्रहण तथा शेष अंशों का निराकरण न करने वाला प्रतिपादक का अभिप्राय, वस्तु के एक धर्म को जानने वाला ज्ञाता का अभिप्राय। नय सात हैं—

नैगम —अभेद या भेद-दोनों को ग्रहण करने वाला अभिप्राय।

संग्रह —सामान्यग्राही विचार। इसके दो भेद हैं—पर और अपर।

व्यवहार लोक-प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाला विचार। जैसे भौंरे में पाँचों वर्ण होते है, फिर भी उसे काला कहा जाता है।

ऋजुसूत्र वर्तमान पर्यायग्राही विचार।

शब्द काल, संख्या, लिंग आदि के भेद से अर्थभेद स्वीकार करनेवाला विचार।

समभिरूढ पर्यायवाची शब्दों मे निरुक्तभेद से अर्थभेद स्वीकार करने वाला विचार।

एवंभूत क्रिया की परिणति के अनुरूप शब्द-प्रयोग को स्वीकार करनेवाला विचार।

विभिन्न अपेक्षाओं से नयों के भेद

ज्ञाननय —ज्ञानप्रधान नय।

क्रियानय —क्रियाप्रधान नय।

द्रव्यार्थिकनय —सामान्य या अभेदग्राही दृष्टिकोण या व्याख्या। प्रथम नय द्रव्यार्थिक हैं।

पर्यायार्थिक नय विशेष या भेदग्राही विचार। शेष चार नय पर्यायार्थिक है।

अर्थनय — अर्थाश्रयी दृष्टिकोण। प्रथम चार नय नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र-ये अर्थनय हैं। उनमे शब्द का काल, लिंग, निरुक्त आदि के आधार पर अर्थ नही बदलता।

शब्दनय — शब्दाश्रयी दृष्टिकोण। शेष तीन नय शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये शब्दनय हैं। इनमे शब्दो का काल, लिंग, निरुक्त आदि के आधार पर अर्थ बदल जाता है।

निश्चयनय तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करने वाला विचार। जैसे-भौरा काला है क्योंकि उसका शरीर एक स्थूल स्कध है।

नास्तित्व वस्तु का प्रतिषेधात्मक धर्म।

निक्षेप प्रस्तुत अर्थ को जानने का उपाय, विशिष्ट शब्द-प्रयोग की पद्धति।

नाम निक्षेप —पदार्थ का नामात्मक व्यवहार।

स्थापनानिक्षेप —पदार्थ का आकाराश्रित व्यवहार।

द्रव्यनिक्षेप —पदार्थ का भूत-भावी पर्यायाश्रित व्यवहार।

भावनिक्षेप —पदार्थ का वर्तमान पर्यायाश्रित व्यवहार।

निगमन साध्य धर्म का धर्मी मे उपसहार करना।

नित्यानित्यवाद सभी द्रव्यो को नित्य और अनित्य स्वीकृत करने वाला सिद्धान्त।

निर्युक्तिकार — जैन आगमो की प्राचीन व्याख्या को निर्युक्ति कहा जाता है। ये प्राकृत भाषा की पद्यमय रचनाए हैं। आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (वि पहली शती) निर्युक्तिकार के रूप मे मान्य हैं।

निर्विकल्पज्ञान अनाकार उपयोग या दर्शन।

नैगमाभास एकान्त सामान्य या एकान्त विशेष का पक्षपाती दृष्टिकोण।

नो-केवलज्ञान —अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान।

न्याय	युक्ति के द्वारा तत्त्व का परीक्षण ।
पंचावयव प्रयोग	प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन—ये पाँच अवयव हैं । परार्थानुमान में इनका प्रयोग होता है ।
पक्षधर्मत्व	—हेतु का पक्ष में होना ।
पर्याय	—वस्तु का क्रमभावी धर्म
परमाणु	परम + अणु = परमाणु । सर्व सूक्ष्म अविभाज्य अंश ।
परमार्थ सत्य	नैश्चयिक सत्य ।
पर-समय-वक्तव्यता	— दूसरों के सिद्धान्त का निरूपण ।
परिणामवाद	सत्कार्यवाद का अपर नाम ।
परिणामिनित्यत्ववाद	देखें सदसत्कार्यवाद ।
परोक्ष	इन्द्रियों के सहयोग से होने वाला ज्ञान ।
पुद्गलास्तिकाय	स्पर्श, वर्ण, गंध और रसयुक्त मूर्त द्रव्य ।
पूर्व	जैन आगम-शास्त्र की एक संज्ञा । 'पूर्व' श्रुत या शब्द ज्ञान के अक्षय कोष हैं । इनकी संख्या चौदह है ।
प्रज्ञा	ज्ञान की वह क्षमता जिससे अज्ञात नियम और संबंध भी जान लिए जाते हैं ।
प्रतिज्ञा	साध्य का निर्देश करना ।
प्रतिबन्धक हेतु	अवरोध उत्पन्न करने वाला कारण ।
प्रत्यक्ष	दूसरे प्रमाणों तथा पौद्गलिक इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा से उद्भूत होने वाला ज्ञान ।
लौकिक प्रत्यक्ष	इन्द्रिय-ज्ञान ।
लोकोत्तर प्रत्यक्ष	अतीन्द्रिय-ज्ञान ।
इन्द्रिय प्रत्यक्ष	इन्द्रियों से होने वाला साक्षात् ज्ञान ।
नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष	अतीन्द्रिय ज्ञान ।
सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष	इन्द्रिय और मन से साक्षात् होने वाला ज्ञान ।
पारमार्थिक प्रत्यक्ष	— अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ।
परार्थ प्रत्यक्ष	प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात अर्थ का वचनात्मक निरूपण ।
प्रत्यभिज्ञा	अनुभव और स्मृति के योग से उत्पन्न होने वाला संकलनात्मक ज्ञान ।

प्रत्यक्ष (विज्ञान)	इन्द्रियो के द्वारा अर्जित अनुभव ।
प्रमाण	सम्यग्ज्ञान, यथार्थज्ञान । सशय और विपर्यय से रहित भाव से पदार्थ का परिच्छेद करना ।
प्रमेय	प्रमाण का साध्य । न्याय के चार अगो मे से एक ।
प्रस्थान	अभ्युपगम, सिद्धान्त ।
प्रातिभज्ञान	– यौगिकज्ञान । भविष्य मे घटित होने वाली घटना का पूर्वाभास ।
प्राप्यकारी इन्द्रिया	ग्राह्य वस्तु से सपृक्त होकर ही अपने विषय को जानने वाली इन्द्रिया । वे चार हैं स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ।
प्रामाण्य—	
स्वत प्रामाण्य	जानने के साथ-साथ 'यह जानना यथार्थ है' ऐसा स्व-प्रत्ययित ज्ञान ।
परत प्रामाण्य	जानने के साथ-साथ 'यह जानना यथार्थ है' ऐसा सवादक प्रमाण से जानना ।
भग	विकल्प
भजनावाद	विकल्पवाद ।
भाषा वर्गणा	भाषा के रूप मे परिणत होने योग्य पुद्गलो का समूह ।
युक्ति	न्याय-विद्या । महर्षि चरक द्वारा स्वीकृत एक प्रमाण ।
योगिप्रत्यक्ष	बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष का एक भेद ।
वस्तुवादीदर्शन	वस्तु की सत्ता को वास्तविक मानने वाला, वस्तु के अस्तित्व को ज्ञान से भिन्न मानने वाला ।
वाच्यवाचकभाव	वाच्य-वाचक का सवध । वाच्य जो कहा जा सके, वाचक – जिसके द्वारा कहा जाए ।
विपक्षसत्त्व	हेतु का विपक्ष मे होना ।
विपर्यय	अतत् मे तत् का अध्यवसाय । जो जैसा नही है उसको वैसा जानना ।
विभज्यवाद	विकल्पवाद अर्थात् स्याद्वाद ।
व्यजन पर्याय	दीर्घकालीन पर्याय, जीवनव्यापी पर्याय ।
व्यजनावग्रह	इद्रिय और अर्थ का सवध-बोध ।
व्यतिरेक	साध्य के अभाव मे साधन का अभाव ।

व्यपदेश — कथन ।

व्यवसायी — निर्णायक ।

व्याप्ति — त्रैकालिक साहचर्य या अविनाभाव का नियम । जैसे जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है ।

अन्तर्व्याप्ति — पक्षीकृत विषय में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, यह अन्तर्व्याप्ति है । इसमें साधर्म्य नहीं मिलता ।

बहिर्व्याप्ति — पक्षीकृत विषय के सिवाय भी साधन की साध्य के साथ व्याप्ति । इसमें साधर्म्य मिलता है ।

ज्ञा (प्रत्यभिज्ञा) — स्मृति और प्रत्यक्ष से होने वाला 'यह वह है' इस प्रकार का बोध ।

सभव — पौराणिकों द्वारा सम्मत प्रमाण का एक प्रकार ।

सभिन्नश्रोतोलब्धि — प्रत्येक इन्द्रिय का पांचों इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने की क्षमता का विकास ।

सवृतिसत्य — व्यावहारिक या काल्पनिक सत्य ।

सशय — निर्णयशून्य विकल्प ।

सत्कार्यवाद — कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसकी सत्ता कारण में विद्यमान रहती है ऐसा सिद्धान्त । साख्य सत्कार्यवादी है ।

सदसत्कार्यवाद — कार्य कारणरूप में सत् और कार्य रूप में असत् रहता है—ऐसा सिद्धान्त । जैन सद्सत्कार्यवादी हैं ।

सन्निकर्ष — इन्द्रिय और अर्थ का सामीप्य ।

सपक्षसत्त्व — हेतु का सपक्ष (अन्वयदृष्टान्त) में होना ।

सप्तभगी — सात विकल्प । स्याद्वाद के सात विकल्प हैं ।

सामानाधिकरण्य — दो धर्मों का एक आधार में होना ।

सामान्य — अभेद प्रतीति का निमित्त ।

तिर्यक् सामान्य — दो या अनेक द्रव्यों में जातिगत एकता, जैसे बरगद, नीम आदि में वृक्षत्व ।

ऊर्ध्वता सामान्य — एक ही द्रव्य की पर्यायगत एकता, जैसे बचपन और यौवन में समानरूप से रहने वाला पुरुषत्व ।

श्रुतज्ञान — शब्दात्मक ज्ञान । शब्द या सकेत के द्वारा दूसरों को समझाने में समर्थ ज्ञान ।

शब्दलिंगज	शब्दात्मक हेतु मे होने वाला ज्ञान।
अर्थलिंगज	अर्थात्मक हेतु से होने वाला ज्ञान, जैसे धूम से हाने वाला अग्नि का ज्ञान।
सौत्रान्तिक	बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायो मे एक। ये बाह्यार्थानुमेय-वादी है।
स्फोट	शब्द का उपादान कारण।
स्मृति	—संस्कार के जागरण से होने वाला 'वह' इस प्रकार का बोध।
स्यात्	तिङन्त प्रतिरूपक निपात। इसके अनेकान्त, विधि, विचार, आदि अनेक अर्थ होते है। 'स्याद्वाद' मे प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द का अर्थ है अनेकान्त।
स्याद्वाद	देखें पाचवा प्रकरण।
स्वलक्षण	वस्तु का क्षणवर्ती होना।
स्व-संवेदन प्रत्यक्ष	बौद्ध-सम्मत प्रत्यक्ष का एक भेद।
स्व-समय वक्तव्यता	अपने मत का सिद्धान्त।
हीनयान	बौद्ध धर्म की एक शाखा।
हेतु	देखे—प्रकरण सातवा।

———

परिशिष्ट ५

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

न	ग्रन्थ	लेखक-सपादक	प्रकाशक
1	अणुओगद्दाराइ	स. मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनू (1974)
2	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका	आचार्य हेमचन्द्र	
3	अपोहसिद्धि	डॉ गोविन्दचन्द्र पाडे कृत अनुवाद	दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर (सन् 197।)
4	अष्टशती	अकलक	भा जैन सिद्धान्त प्रकाशन सस्था, काशी(सन्1914)
5	आप्तमीमासा	आचार्य समन्तभद्र	,, ,, ,, ,, ,,
6	आयारो	स मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनू (सन् 1974)
7	उत्तरज्झयणाणि	स मुनि नथमल	जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता (सन् 1967)
8	कसायपाहुड	आचार्य गुणधर	वीर शासन सघ, कलकत्ता (ई 1955)
9	गोमटसार	आ नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती	गाधी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता
10	चरक		
11	जैन सिद्धान्त दीपिका	आचार्य तुलसी	आदर्श साहित्य सघ, चूरू (द्वितीयावृत्ति, सन् 1970)

न०	ग्रन्थ	लेखक-सपादक	प्रकाशक
12	ठाण	स मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनू (सन् 1976)
13	तत्त्वार्थ भाष्य	उमास्वाति (स्वोपज्ञ)	दे ला जैन पुस्तको फड, बम्बई (वि 1982)
14	तत्त्वार्थ वार्तिक	अकलक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (1953)
15	तत्त्वार्थराजवार्तिक	,,	
16	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	आचार्य विद्यानन्दि	निर्णयसागर यत्रालय, बम्बई (ई 1918)
17	तत्त्वार्थ सूत्र	आचार्य उमास्वाति	निर्णयसागर यत्रालय, बम्बई (ई 1905)
18	तिलोयपण्णत्ती	आचार्य यतिवृषभ	जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (1943)
19	दशवैकालिक निर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय)	आगमोदय समिति, भावनगर, गुजरात
20	नदी	स मुनि नथमल	अप्रकाशित
21	नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, (स 1966)
22	न्यायकुमुदचन्द्र	आचार्य प्रभाचन्द्र	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई (ई. 1938)

न०	ग्रन्थ	लेखक-सपादक	प्रकाशक
23	न्यायविन्दु	डॉ गोविन्दचन्द्र पाडे कृत अनुवाद	दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, (सन् 1972)
24	न्यायभाष्य	वात्स्यायन	
25	न्यायवार्तिक	उद्योतकर	
26	न्यायविनिश्चय	अकलक	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, (ई 1939)
27	न्यायसूत्र	अक्षपाद गौतम	
28	न्यायावतार	सिद्धसेन दिवाकर	श्वे जैन महासभा, बम्बई (वि 1985)
29	पचास्तिकाय	आचार्य कुन्दकुन्द	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई (वि 1972)
30	परीक्षामुख	आचार्य माणिक्यनन्दि	जैन सस्कृति सघ, सोलापुर (ई 1962)
31	पाश्चात्यदर्शन	चन्द्रधर शर्मा	मनोहर प्रकाशन, जतनवर, वाराणसी (1973)
32	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	आचार्य अमृतचन्द्र	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, गुजरात (पाचवी आवृत्ति, 1966)
33	प्रमाणनयतत्त्वालोक	वादिदेवसूरी	यशो श्वे जैन पाठशाला, काशी (ई 1904)

नं०	ग्रन्थ	लेखक-सपादक	प्रकाशक
34	प्रमाणमीमासा	आचार्य हेमचन्द्र	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता (ई 1939)
35	प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति	
36	प्रवचनप्रवेश	अकलक	
37	प्रवचनसार	आचार्य कुन्दकुन्द	परमश्रुत प्रभावक मडल, वम्बई (1969)
38	बृहद्नयचक्र		
39	भगवई	स, मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनू (सन् 1974)
40	लघीयस्त्रय	आचार्य अकलक	मा दि जैन ग्रन्थमाला, वम्बई (वि 1972)
41	विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	ऋषभदेव केसरीमल श्वेताम्बर सस्था, रतलाम (ई 1936)
42	शास्त्रवार्तासमुच्चय	आचार्य हरिभद्र	श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद (ई० 1939)
43	श्लोकवार्तिक	आचार्य कुमारिल	
44	सप्तभगीतरगिणी	विमलदास	परमश्रुत प्रभावक मडल, वम्बई (वी नि 2431)

क्र०	ग्रन्थ	लेखक-संपादक	प्रकाशक
45	सन्मतिप्रकरण	आचार्य सिद्धसेन	ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद (ई 1963)
46	सर्वार्थसिद्धि	आचार्य पूज्यपाद	भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस (ई 1971)
47	साम्यकारिका	ईश्वरकृष्ण अनु डॉ ब्रजमोहन चतुर्वेदी	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (ई 1969)
48	सूयगडो	स मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनूं (ई 1974)
49	स्वयंभूस्तोत्र	आचार्य समन्तभद्र	वीर सेवा मंदिर, सहारनपुर (ई 1950)
50	हिंसाफलाष्टकप्रकरण	आचार्य हरिभद्र	श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद (ई 1939)